Chapter-2

द्वितीय अध्याय

दलित-विमर्श

विषयक

कतिपय

अवधारणाएँ

प्रास्ताविक :-

प्रस्तुत शोध-प्रबंध शैलेश मटियानी की कहानियों में दलित, ईसाई और मुस्लिम संदर्भों की पड़ताल से संबंधित है । अतः इस अध्याय में दलित-विमर्श को स्पष्ट करने का यत्न किया जा रहा है । दलित शब्द आधुनिकता की देन है । दलित शब्द तो संस्कृत का है । परन्तु आज इस शब्द का प्रयोग एक वर्ग-विशेष के लिए ही किया जाता है । हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल अनेक नये मुद्दों और मुहीमों को अग्रसरित करता है । आधुनिक काल की पृष्ठभूमि में नवजागरण की प्रवृत्तियों का विशेष महत्व है । नवजागरण के कारण जो मुद्दे प्रकाश में आए, चर्चा में आए, सामाजिक चिन्ता के कारण बने, उनमें दो प्रमुख हैं- नारी-विमर्श और दलित-विमर्श । शैलेश मटियानी जी ने जो कहानियाँ लिखी हैं, उनमें कई कहानियों में हमें दलित-जीवन की समस्याएँ प्राप्त होती हैं । अतः दलित-विमर्श क्या है ? उसके प्रमुख अभिलक्षण क्या हो सकते हैं ? दलित-चेतना को जगाने का महाभिनिष्क्रमण-सा काम किनके द्वारा संपन्न हुआ, वर्णाश्रम व्यवस्था,

अस्पृश्यता का प्रारंभ, दलित-विमर्श यात्रा तथा आधुनिक काल में दलितोद्धार तथा अस्पृश्यता निवारण में डॉ. बाबा साहब की क्रांतिकारी भूमिका आदि का तार्किक आकलन प्रस्तुत अध्याय में करने का उपक्रम हमारा है। तृतीय अध्याय में ईसाई तथा मुस्लिम विमर्श विषयक अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न होगा।

दलित-विमर्श :-

दलित-विमर्श का सीधा-सादा अर्थ होगा, दलित वर्ग की चिन्ता, दलितों की स्थिति पर चिंतन, दलितों की दयनीय, शोषित, दलित स्थितियों के कारणों की पड़ताल, उनकी समस्याएँ, दलित-चेतना जैसे उनसे संबद्ध मुद्दों को विश्लेषित करना। उन पर जो निर्योग्यताएँ थोपी गयीं थी, धर्म और शास्त्र के औजारों के द्वारा और जिनके रहते उनकी स्थिति पशुओं से भी बदतर हो गयी थी, इन सब बातों का अनुसंधान करके उनके हितों और कल्याण की चिंता करना यही दलित-विमर्श है। यहाँ उसके विभिन्न आयामों पर चर्चा करने का हमारा उपक्रम रहेगा।

वर्णाश्रम-व्यवस्था में शूद्रों का स्थान :-

बचपन में हम लोगों को पढ़ाया जाता है कि वर्णाश्रम व्यवस्था आर्यों की आदर्श व्यवस्था थी। 'वर्णाश्रम' शब्द दो शब्दों के योग से निष्पन्न हुआ है- वर्ण + आश्रम। उत्तम-आदर्श जीवन हेतु चार वर्ण और चार आश्रम की व्यवस्था। चार वर्ण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा उनमें ऊँच-नीच का संस्तरण (Hierarchy)। इस व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि था और शूद्र का स्थान सबसे नीचे था। 'आश्रम' से तात्पर्य जीवन की चार अवस्थाओं से है- ब्रह्मचर्यावस्था, गृहस्थावस्था, वानप्रस्थावस्था और सन्यास्थावस्था। इन चार अवस्थाओं से चार आश्रमों को संपृक्त किया। यथा- ब्रह्चर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यास्थाश्रम। पर इन

आश्रमों से शूद्रों का कोई लेना-देना नहीं था। उनके लिए तो समूचा जीवन एक ही आश्रम में लिपटा हुआ था- सेवाश्रम। आश्रम व्यवस्था भी दोषपूर्ण तो है ही, परन्तु यहाँ उसकी चर्चा अप्रस्तुत है। शूद्रों का, दलितों का सर्वनाश करने वाली जो व्यवस्था है वह तो वर्ण-व्यवस्था है। आज की नवीन ऐतिहासिक-वैज्ञानिक-तर्कपूर्ण दृष्टि से कोई भी समझदार व्यक्ति इस व्यवस्था को आदर्श नहीं कह सकता। केवल जन्म के आधार पर व्यक्ति को श्रेष्ठता नहीं मिलनी चाहिए। श्रेष्ठता एक गुण है जो दूसरे गुणों की तरह उसे भी हासिल करना होता है। पश्चिम का एक विचारक हेनरी थोरो कहता है- "To inherit property is not to be born, it is to be still born rather"[१] Henry thoreau)

अर्थात् संपत्ति या गुणों के साथ जन्म लेना कोई जन्म लेना नहीं, मनुष्य को दूसरी बार जन्म लेना होता है। इसे ही 'द्विज' होना कहते हैं। अपने कर्मों से, अपने पुरुषार्थ से उच्चत्व को प्राप्त करना ही 'द्विजत्व' को प्राप्त करना है, परन्तु न्यस्त-हितों से संपृक्त लोगों ने उसे एक जाति-विशेष से जोड़ दिया। वस्तुतः इस वर्ण-व्यवस्था को हिन्दू अपने धर्म का एक विशेष अभिलक्षण मानते हैं और इस व्यवस्था को वे श्रेष्ठ करार देते हैं। किन्तु डॉ. अम्बेडकर तथा उनकी विचारधारा से जुड़े हुए तमाम लोग एक सिरे से उसका विरोध करते हैं और उसे भारत की पराधीनता के कारणों में से एक मुख्य कारण बताते हैं। वर्ण-व्यवस्था ने ही जाति व्यवस्था को जन्म दिया जिसने भारत की एकता को तोड़कर रख दिया। इसके संस्कार (या कुसंस्कार ?) कितने गहरे हो सकते हैं कि हरिजनोद्धार की बात करने वाले तथा 'अस्पृश्यता' को हिन्दू धर्म का कलंक मानने वाले महात्मा गाँधी भी इस व्यवस्था को श्रेष्ठ मानते हैं। एक तरफ जातिवादी ऊँच-नीच का विरोध करना और दूसरी तरफ उसी की जनक वर्ण-व्यवस्था को श्रेष्ठ मानना यह एक प्रकार का अन्तर्विरोध है, जो महात्मा में हमें मिलता है।

बहुत से लोग 'वर्ण' और 'जाति' को एक ही मानते हैं, लेकिन यह

एक भ्रामक धारणा है । वर्ण-व्यवस्था एक बृहत् अवधारणा है जिसके अनुसार कार्यात्मक दृष्टि से समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । हो सकता है प्रारंभ में ये चार वर्ग या वर्ण ही हों, परन्तु आज एक ही वर्ण में सैंकड़ों-हजारों जातियाँ पायी जाती हैं । इस जाति-व्यवस्था और उसकी जड़ता के कारण ही भारत की एकता पर व्याघात हुआ है । इस प्रकार 'वर्ण' ने जाति को जन्म दिया । 'वर्ण' एक बृहत् अवधारणा थी, लेकिन जाति-व्यवस्था में अत्याधिक संकीर्णता आ गई है ।

आज भी मनुष्य (दलित-वर्ग का मनुष्य) इस वर्ण-व्यवस्था से उत्पन्न जाति-व्यवस्था से बुरी तरह से ग्रस्त एवं अभिशप्त हैं । अभी कुछ दिन पूर्व गुजराती दैनिक ''संदेश'' में एक हेवाल छपा था, जिसमें बड़ौदा जिले के शिनोर तालुके के एक गाँव में आज भी ''दलित'' युवक गाँव में साईकिल पर नहीं चल सकते । दलित परिवारों का दूध गाँव की डेरी नहीं लेती है ।[२] दिनांक ०२-०९-२००४ के ''नवभारत टाइम्स '' डॉ. चन्द्रभान प्रसाद का एक शोध-परक लेख प्रकाशित हुआ है । ''एक लिबरेटर तमिल गाँव के आँसू'' । इसमें तमिल का एक गाँव है - काट्टूकुदालर । प्रदेश सरकार के अनुसार यह एक ''लिबरेटेड'' गाँव है, अर्थात् छुआछूत से परे । इसके ''लिबरेटेड'' होने का प्रमाण यह है कि उस गाँव के होटलों से भी कुछ वर्ष पूर्व ''तीन गिलासों का सिस्टम'' हट गया है । तमिलनाडू के अधिकतर ग्रामिण बाजारों में चाय की दुकानों पर तीन तरह के गिलास होते है : एक दलितों के लिए, दूसरा गैर-दलितों के लिए और तीसरा उनके लिए जिनकी जातीय पहचान साफ नहीं है । ''काट्टूकुदालर'' लिबरेटेड इस अर्थ में है कि वहाँ से यह ''तीन गिलसिया सिस्टम'' उठ गया है, लेकिन छुआछूत की दूसरी परंपराएँ वहाँ आज भी मौजूद है । यथा- चाय की दुकानों पर बेंच लगे होते हैं, लेकिन गाँव के दलित चाय खड़े होकर ही पी सकते हैं । उस समय भी जब बेंच पूरी तरह खाली पड़ी हो । ला ग्रेजुएट धामिकाचलम भी चाय खड़े होकर ही पीता है । कोई भी दलित गाँव में नाई की दुकान पर बाल कटवा नहीं

सकता। उसे दूर के कस्बे या शहर में जाना पड़ता है, जहाँ उसकी दलित पहचान छिपाई जा सकती है।.... गाँव के भीतर साइकिल पर सवार होकर चले जाना मुसीबत मोल लेने से कम नहीं। गाँव के मंदिर में प्रवेश का मतलब है जातीय दंगा छिड़ जाना। गाँव के भीतर से सिगरेट पीते हुए गुजर जाना किसी दुस्साहस से कम नहीं।[३] ऐसी तो अनेक निर्योग्यताओं (Disabilities) का उल्लेख उस लेख में किया गया है। अभी कुछ वर्ष पूर्व मुंबई के एक कान्सटेबल की हत्या पत्थरों द्वारा की गई थी, उनका कसूर मात्र इतना था कि वर्षा से बचने के लिए वह किसी मंदिर में घुस गए थे।

वर्ण-व्यवस्था का उत्स हमें ऋग्वेद के दसवें मंडल के "पुरूष-सूक्त" नामक मंत्र में मिलता है, जो इस प्रकार है-

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

उरू तदस्य यद्वैस्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत॥"[४]

अर्थात् ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों का भुजाओं से, वैश्यों का उदर के निम्न भाग से, तथा शूद्रों का पैरों से हुआ है। इसमें मुख ज्ञान का प्रतीक और, भुजाएँ शक्ति का प्रतीक, उदर पोषण-कार्य का प्रतीक और पैर सेवा के प्रतीक रूप में हैं। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद में भी वर्णों की उत्पत्ति के संदर्भ में कुछ जानकारी मिलती है। बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार ब्रह्मा ने प्रथम ब्राह्मणों को ही उत्पन्न किया, लेकिन जब ब्राह्मण समाज के सभी कार्यों को संपन्न करने में अक्षम सिद्ध हुए तो उन्होंने क्षत्रियों को उत्पन्न किये। परन्तु जब ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों से समाज के सभी कार्यों की पूर्ति नहीं हो सकी, तब उन्होंने वैश्यों को उत्पन्न किये और तीन वर्णों से भी जब वह सध न सका तो उन्होंने शूद्रों को जन्म दिया। वस्तुतः उपनिषदों का यह सिद्धान्त कार्य-विभाजन (Division of work) के सिद्धान्त पर आधारित है। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार वर्ण का निर्धारण व्यक्ति के पूर्व-जन्म के कर्मों पर आधारित होता है।[५]

महाभारत में ब्रह्मा को विभिन्न वर्णों का उत्पत्ति-कर्ता बताया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में बताया गया है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहू से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और इन तीनों वर्ण की सेवा के लिए चरण से शुद्र उत्पन्न हुए।[६] शान्तिपर्व में ही अपने शिष्य भारद्वाज को महर्षि भृगु ने कहा है कि प्रारंभ में केवल ब्राह्मण वर्ण ही था। यही वर्ण बाद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में बँट गया। ब्राह्मणों का वर्ण (रंग) श्वेत, क्षत्रियों का लोहित(लाल), वैश्यों का पीत (पीला) और शुद्रों का श्याम (काला) रंग क्रमशः सत्वगुण और पवित्रता, रजसगुण और क्रोध, रजोगुण और तमोगुण तथा तमोगुण एवं अपवित्रता का परिचायक है। यहाँ भृगु ने स्वयं बताया है कि रंग वास्तव में वर्ण-विभाजन का आधार नहीं है, वास्तविक आधार तो व्यक्ति के गुण एवं कर्म ही है।[७] भगवद्‌गीता में कहा गया है- ''चातुर्वर्ग मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः''।[८] अर्थात् मैंने ही गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों की रचना की है।

शाब्दिक दृष्टि से ''वर्ण'' शब्द के तीन संभावित अर्थ लगाये जाते है : (१) वरण या चुनाव करना, (२) रंग और (३) वृत्ति के अनुरूप। प्रथम के अनुसार ''वर्ण'' शब्द की व्युत्पत्ति ''वृ'' (वृत्त-वरणै) धातु से मानी गयी है जिसका अर्थ होता है वरण या चुनाव करना। इस दृष्टि से व्यक्ति अपने लिए जिस व्यवसाय का चुनाव करता है, उसी के अनुसार उसके वर्ण का निर्धारण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्ण उन लोगों का समूह है जिनका व्यवसाय समान है। किन्तु यह अर्थ भ्रामक है। ऋग्वेद में अलग-अलग वर्णों के अलग-अलग रंग बताए हैं, परन्तु वे उनके गुणों के प्रतीक हैं। डॉ. जी. एस. धुरिये के अनुसार आर्यों ने यहाँ के मूल निवासियों को पराजित करके उन्हें दास या दस्यु नाम दिया और अपने तथा उनके बीच अंतर प्रकट करने के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ रंगभेद हैं।[९] डॉ.पी.वी. काणे के अनुसार प्रारंभ में गौर वर्ण का प्रयोग आर्यों के लिए और कृष्ण वर्ण का दासों या दस्युओं के लिए किया जाता था, बाद में

''वर्ण'' शब्द का प्रयोग गुण एवं कर्म (वृत्ति) के आधार पर बने चार वर्गों के लिए किया जाने लगा।[10]

डॉ. अंबेडकर शूद्र को पृथक वर्ण नहीं मानकर उन्हें क्षत्रिय मानते हैं। वे आर्यों के गौर वर्ण और आर्येत्तर लोगों के कृष्ण वर्ण होने के सिद्धान्त को भी नहीं मानते। उन्होंने वैदिक आधार पर स्पष्ट किया है कि राम, कृष्ण, ऋषि दीर्घतमा एवं कण्व कृष्ण वर्ण के थे। डाक्टर साहब पाश्चात्य विद्वान मैक्समूलर तथा वेबर की भाँति यह मानते है कि ऋग्वेद का पुरूष-सूक्त प्रामाणिक नहीं है और उसे बाद में जोड़ा गया है। डॉ. अंबेडकर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आरंभ में मूलत: तीन ही वर्ण थे और शूद्र वर्ण क्षत्रिय वर्ण का ही एक भाग है। वस्तुत: ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में जो सुदीर्घ संघर्ष हुए उसके बाद चौथे वर्ण के रूप में शूद्र का उद्‌भव हुआ जो मूलत: क्षत्रिय ही थे। इस चौथे वर्ण की उत्पत्ति के पश्चात ब्राह्मणों ने शूद्रों के विरुद्ध जिस खतरनाक मारक अस्त्र का प्रयोग किया वह था उपनयन-संस्कार। उन्होंने शूद्रों को उपनयन-संस्कार से वंचित कर दिया। इस संघर्ष से पूर्व स्त्रियों तथा शूद्रों को उपनयन का अधिकार प्राप्त था।[11]

इस प्रकार हो सकता है कि शुरू में तीन वर्ण रहे हों और बाद में शूद्र वर्ण आया हो। प्रारंभ में यह विभाजन गुण-कर्म के अनुसार रहा हो। किन्तु बाद में ब्राह्मणों ने बहुत चातुर्य के साथ अपने हितों की पूर्ति हेतु उसे कर्मणा के स्थान पर जन्मना में परिवर्तित कर दिया हो। ब्राह्मणों की इस चतुर युक्ति के सिद्धान्त को डॉ.घुरिये तथा अब्बे डुबोइस मानते है। अब्बे डुबोइस का मत है कि जाति-प्रथा ब्राह्मणों की चतुर युक्ति और राजनीतिक योजना का फल है। जो उन्होंने अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए निर्मित की। घुरिये का मत है कि ब्राह्मणों ने अपने कुल और सम्मान को बनाए रखने के लिए जाति-प्रथा को जन्म दिया।[12]

धर्म-शास्त्रों के अनुसार इन चारों वर्णों के जो कर्म और अधिकार बताए गए है उन पर दृष्टिपात करने से इस व्यवस्था की अवैज्ञानिकता तथा

अन्यायमूलकता और शोषणोन्मुखता पर प्रकाश पड़ सकता है।

१. ब्राह्मणों का धर्म :-

ब्राह्मणों का मुख्य धर्म इन्द्रिय संयम बताया गया है। मनुस्मृति के अनुसार वेदों का अनुशीलन, तप, अध्ययन-अध्यापन एवं यज्ञों का संपादन ब्राह्मण के मुख्य दायित्व हैं।[13] ब्राह्मणों के छः कर्तव्य बताए गए हैं, जो इस प्रकार है : अध्ययन और अध्यापन, यज्ञ करना और कराना, दान देना और दान लेना। ब्राह्मणों को सौंपे गए इन तमाम दायित्वों का संबंध सत्वगुण के साथ है जिसे सभी गुणों में श्रेष्ठ माना गया है। इसी कारण से ब्राह्मणों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

२. क्षत्रिय-धर्म :-

परोपकार करना, प्रजा की रक्षा करना, युद्ध में वीरता दिखाना आदि क्षत्रिय के महत्वपूर्ण कर्तव्य है। मनुस्मृति के अनुसार प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करवाना, अध्ययन करना एवं विषयों में आसक्ति न रखना क्षत्रियों के प्रमुख कर्तव्य है।[14] क्षत्रिय को इतना समर्थ होना चाहिए कि वह दुष्टों को दण्ड दे सके। महाभारत में उसे क्षत्रिय माना गया है जो वेदों के अध्ययन और ब्रह्माणों को दान देने में रूचि रखता हैं। गीता में क्षत्रियों के सात प्रकारके धर्म बताए गए है। शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना, दान देना और निस्वार्थ भाव से प्रजा का पालन करना।[15] इन गुणों का सत्वगुण और रजोगुण से संबंध हैं।

३. वैश्य धर्म :-

वैश्यों का धर्म समाज के भरण-पोषण का दायित्व अपने ऊपर लेकर समाज के अस्तित्व को बनाएं रखना है। महाभारत में बताया गया है कि वैश्य वे हैं जो वेदाध्ययन से संपन्न होकर व्यापार, पशु-पालन, कृषि में रूचि रखता हो। वैश्य का कर्तव्य है कि वह उचित साधनों से धन का संग्रह

करें। मनुस्मृति में वैश्यों के कर्तव्य इस प्रकार हैं : पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करवाना, अध्ययन करना, व्यापार करना, ब्याज पर धन देना, कृषि करना।[१६]

४. शूद्र धर्म :-

अन्य तीनों वर्ण की सेवा करना शूद्र का प्रमुख धर्म बताया गया है। मनु के अनुसार शुद्रों का एक ही धर्म है और वह है- अन्य तीनों वर्णों की बिना किसी ईर्ष्या भाव के सेवा करना।[१७] शूद्र के लिए कहा गया है कि जहाँ तक संभव हो उसे किसी ब्राह्मण के सेवक के रूप में ही काम करना चाहिए। क्षत्रिय या वैश्य का सेवक तो उसे आजीविका कमाने की दृष्टि से आवश्यकतानुसार ही बनना चाहिए। शूद्र के लिए बताया गया है कि उसे अध्ययन, धन-संग्रह एवं अन्य वर्णों के व्यवसाय अपनाने का कार्य नहीं करना चाहिए। शूद्र को अपने स्वामी की निस्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिए। स्वामी की संपत्ति नष्ट हो जाने पर उसे अपने बच्चों आदि के भरण-पोषण के बाद बची हुई शेष-संपत्ति को स्वामी के भरण-पोषण में खर्च करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन को देखने पर ज्ञान होता है कि तीन वर्णों में तो अधिक निर्योग्यताएँ नहीं मिलती हैं। तीनों को वेदाध्ययन का अधिकार है। ब्राह्मण इस संस्तरण (Hierachy) में सर्वोपरि है। अध्ययन और धन-संग्रह का अधिकार क्षत्रियों और वैश्यों को है, परंतु शूद्र इन अधिकारों से वंचित हैं। शूद्र धन-संग्रह नहीं कर सकता, अत: धनवान होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। वह अपना व्यवसाय नहीं बदल सकता और उसका व्यवसाय क्या है ? तीनों वर्ण की सेवा करना। इस प्रकार जिस वर्ण-व्यवस्था को कुछ लोग बड़ी आदर्श व्यस्था मानते हैं, वह वस्तुत: आदर्श व्यवस्था न होकर एक शोषणोन्मुखी व्यवस्था है। देश की एकता को तोड़नेवाली व्यवस्था है।

वर्ण-व्यवस्था के दोष :-

हो सकता है प्रारंभ में वर्ण-व्यवस्था अधिक जड़ और अनुदार न हो, परंतु शनै: शनै: वह जड़, कट्टर, अनुदार और अमानवीय होती गई। उसने अनेक जातियों और उपजातियों को जन्म दिया। भारत की पराधीनता के कारणों में एक यह भी है। यहाँ बहुत संक्षेप में इस व्यवस्था के दोषों को रेखांकित किया जा रहा है -

(१) वर्ण-व्यवस्था के कारण जब आगे चलकर अनेक जातियों और उप-जातियों का निर्माण हुआ तो उससे सामाजिक भावना काफी संकुचित होती गई और राष्ट्रीय एकता को उससे व्याघात पहुँचता गया।

(२) इस व्यवस्था का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि समाज के एक बहुत बड़े वर्ग (शूद्र) को अपने विकास के समुचित अवसर नहीं दिए गए। वही देश या राष्ट्र विकास कर सकता है जिसमें सभी वर्ग के प्रतिभासंपन्न और ऊर्जावान लोगों का सम्मिलित योगदान रहता है।

(३) प्रतिभा और ऊर्जा को किसी एक वर्ग के साथ संपृक्त कर देना न मानवीय है, न संगतिपूर्ण।

(४) किसी एक वर्ण (शूद्र) को तमोगुण प्रधान मानकर अज्ञानी समझ लिया जाए और उसके साथ पशुवत् व्यवहार किया जाए यह मानवता के किसी भी मानदण्ड से उचित नहीं है।

(५) किसी एक वर्ण को ऐसी व्यवस्था द्वारा अध्ययन से विमुख किया जाए और फिर उसी आधार पर उसे अज्ञानी और नीच करार दिया जाए यह सर्वथा अन्यायी व्यवस्था है।

(६) यदि सचमुच कुछ सर्वोत्तम और श्रेष्ठ हैं तो उसे जानने, समझने का अधिकार सबको होना चाहिए।

(७) इसी वर्ण-व्यवस्था ने आगे चलकर अस्पृश्यता को जन्म दिया जिसे हिन्दू धर्म का एक कलंक माना जाता है।

डॉ.अम्बेड़कर ने इस वर्ण-व्यवस्था को ब्राह्मणों की ''दमनकारी

तकनीक'' कहा है और उसके छ:सिद्धातों का उल्लेख किया है जिन्हें मानवता की दृष्टि से शोषणोन्मुखी कहा जा सकता है-

(१) विभिन्न वर्णों के बीच क्रमिक असमानता।

(२) शूद्रों एवं अछूतों का पूर्ण निरस्त्रीकरण।

(३) शूद्रों एवं अछूतों का शिक्षा पर पूर्ण प्रतिबंध।

(४) शक्ति एवं प्राधिकार के स्थानों से शूद्रों का निष्कासन।

(५) शूद्रों एवं अछूतों द्वारा सम्पत्ति अर्जन पर पूर्ण निषेध।

(६) औरतों का पूर्ण अधीनीकरण एवं दमन।[१८]

डॉ. जी. एस. लोखण्डे ने अपने ग्रन्थ 'भीमरावजी अम्बेड़कर : ए स्टडी इन सोशल डेमोक्रेसी' में स्थापित किया है कि ब्राह्मण स्वयं को किसी भी हिन्दू को किसी भी समय सामाजिक स्थिति (Status) प्रदान करने व हरण करने का अधिकारी मानता रहा एवं इस अधिकार का अपने हित में सदैव प्रयोग करता रहा। ब्राह्मण वर्ण के लोग अपनी सर्वोच्च सत्ता बनाए रखने भेंट, पूजा, दान, यज्ञ, पौरोहित्य के एकाधिकार की सुरक्षा हेतु सदैव ऊँच-नीच का विधान करते रहे हैं। इस संबंध में वे शिवाजी के राज्याभिषेक का उदाहरण देते है। शिवाजी को अपनी पात्रता सिद्ध करने के लिए कहा जाता हैं कि वे यह सिद्ध करें कि वे क्षत्रिय हैं, शूद्र नहीं। उनका प्रधान अमात्य मोरोपंत पिंगले एवं अन्य मराठा सरदार उन्हें क्षत्रिय नहीं मानते थे और फलत: उनको उपनयन संस्कार तथा राज्याभिषेक के लिए अयोग्य समझते थे। तब शिवाजी को इस विशिष्ट संस्कार के लिए बनारस से गंग भट्ट नामक वेदज्ञ पंडित को बुलाना पड़ा था, क्योंकि महाराष्ट्र का कोई ब्राह्मण उनके उपनयन संस्कार में भाग लेने को तैयार नहीं था। इस कार्य के लिए तथा राज्याभिषेक के लिए शिवाजी को दक्षिणा तथा भेंट के रूप में ब्राह्मण वर्ग को चार करोड़ छब्बीस लाख रूपये की राशि व्यय करनी पड़ी थी। एक लाख रूपये तो गंग भट्ट को ही दक्षिणा में देने पड़े थे। इतनी ही भेंट अपने ब्राह्मण

अमात्य मोरोपंत पिंगले को देनी पड़ी थी। इस व्यय (या अपव्यय?) के कारण शिवाजी को क्षत्रिय मान लिया गया, परन्तु बाद में उनके पुत्र शंभाजी तथा पौत्र शाहू को क्षत्रिय मानने से इन्कार करते हैं। उनके वंशज कोल्हापुर नरेशों को भी यह ब्राह्मण वर्ग शुद्र ही मानता रहा। [११] उपर्युक्त घटनाओं से यह प्रमाणित होता है कि सामाजिक संस्तरण (Social Hierachy) की वल्गा ब्राह्मणों ने हमेशा अपने पास रखी। डॉ. जे. जे. अंजारिया ने तथा डॉ.अम्बेड़कर ने क्रमश: ब्राह्मणों के विशेषाधिकार तथा शूद्रों की निर्योग्यताओं का जो उल्लेख किया है उससे भी उनकी यह अन्यायपूर्ण दृष्टि सामने आती है।

ब्राह्मणों के विशेषाधिकार :-

डॉ. अंजारिया ने ब्राह्मणों के निम्नलिखित विशेषाधिकारों का उल्लेख किया है :

(१) ब्राह्मण को अपने जन्म से सभी वर्णों का गुरू माना जाना चाहिए।

(२) ब्राह्मण को अन्य वर्णों के कर्तव्य निर्धारित करने का सम्पूर्ण अधिकार है, उनके लिए क्या आचरण उचित है और उनकी जीविका के क्या साधन हों ? अन्य वर्ण उसके निर्देशों से बाध्य होते थे और राजा उनके निर्देशों के अनुसार शासन करता था।

(३) ब्राह्मण राजा के अधिकार में नहीं है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त राजा सभी का शासक था।

(४) ब्राह्मण कोड़े लगाने, बेडियाँ डालने, अर्थदण्ड, देश निकाला, बहिष्कार आदि दण्डों से मुक्त है।

(५) ब्राह्मण (वेद-विद) कर मुक्त है।

(६) यदि ब्राह्मण को गड़ा हुआ धन मिले तो वह सम्पूर्ण धन का अधिकारी है। यदि राजा को गड़ा हुआ धन मिलता हैं तो उसे आधा धन ब्राह्मण को

देना चाहिए।

(७) ब्राह्मण की संपत्ति यदि उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं होगा तो मृत्यु के पश्चात राजा के पास नहीं आएगी, वरन् उसे ब्राह्मणों अथवा क्षत्रियों के बीच वितरित कर दिया जाएगा।

(८) यदि राजा को मार्ग में ब्राह्मण मिलता हैं तो राजा ब्राह्मण को रास्ता देगा।

(९) पहले ब्राह्मण को नमस्कार किया जाना चाहिए।

(१०) ब्राह्मण पवित्र व्यक्ति है। ब्राह्मण को हत्या का अपराधी होने पर भी दण्ड नहीं दिया जा सकता।

(११) ब्राह्मण को आक्रमण करके डराना, आघात पहुँचाना अथवा ब्राह्मण के शरीर से रक्त निकालना अपराध है।

(१२) किसी अपराध के लिए ब्राह्मण को अन्य वर्णों की तुलना में बहुत कम सजा दी जानी चाहिए।

(१३) राजा को साक्षी रूप में ब्राह्मण को नहीं बुलाना चाहिए यदि विवादी ब्राह्मण न हो।

(१४) यदि कोई ब्राह्मण ऐसी औरत से शादी करता है जिसके दश पूर्व पति थे तो वह अकेला ही उसका पति माना जाएगा, राजन्य या वैश्य नहीं, जिनसे उसने शादी की थी। [२०]

इसके विपरित शूद्रों पर जो निर्योग्यताएँ थोपी गयीं थीं उनको भी ज़रा एक नजर देख लीजिए :

(१) शूद्रों का सामाजिक क्रम में अंतिम क्रम निर्धारित हैं।

(२) शूद्र अपवित्र माने गए, इसलिए किसी भी पवित्र कार्य को देखने सुनने का अधिकार उन्हें नहीं था।

(३) शूद्रों को अन्य वर्णों की तरह सम्मान नहीं दिया जाना चाहिए।

(४) शूद्रों के जीवन का कोई मूल्य नहीं हैं और कोई भी व्यक्ति बिना कोई क्षति-पूर्ति दिए उन्हें मार सकता है। क्षति-पूर्ति यदि देय भी हैं तो ब्राह्मण-क्षत्रिय एवं वैश्य की तुलना में बहुत कम हैं।

(५) शूद्रों को ज्ञानार्जन नहीं करना चाहिए और शूद्रों को शिक्षा देना एक पाप और अपराध है।

(६) शूद्र को संपत्ति अर्जित नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण उसकी संपत्ति अपने आनंद के लिए ले सकता है।

(७) शूद्र राज्य के अधीन कोई पद धारण नहीं कर सकता।

(८) शूद्रों के कर्तव्य और मुक्ति उच्च वर्णों की सेवा में निहित है।

(९) अन्य वर्णों से शूद्रों को अन्तर्जातिय विवाह नहीं करना चाहिए। तथापि वे एक शूद्र औरत को रखैल के रूप में रख सकते हैं, किन्तु यदि एक शूद्र उच्च वर्ण की औरत को छूता है तो उसे दण्ड दिया जाएगा।[२१]

(१०) शूद्रों को मंदिर-प्रवेश, पवित्र नदि-घाटों के उपयोग, पवित्र स्थानों पर जाने तथा अपने ही घरों पर देवी-देवताओं की पूजा करने का अधिकार नहीं दिया गया। इन्हें वेदों अथवा अन्य धर्म ग्रन्थों के अध्ययन एवं श्रवण की आज्ञा नहीं दी गई।

(११) इन्हें अपने संबंधियों के शब सार्वजनिक श्मशान घाट पर जलाने की भी स्वीकृति नहीं दी गई।

(१२) अस्पृश्यों को सब प्रकार की धार्मिक सुविधाओं से वंचित कर दिया गया। यहाँ तक कि सवर्ण हिन्दुओं को आदेश दिया गया कि वे अपने धार्मिक जीवन से अस्पृश्यों को पृथक रखें।

(१३) मनुस्मृति में बतलाया गया है कि अस्पृश्य को किसी भी प्रकार की राय न दी जाय, न ही उसे देवभोग का प्रसाद मिले, न उसके समक्ष पवित्र

विधान की व्याख्या की जाय, न ही उस पर तपस्या या प्रायश्चित का भार डाला जाय।

(१४) यदि कोई दूसरे वर्ण का व्यक्ति शूद्र के लिए पवित्र विधान की व्याख्या करता है अथवा तपस्या या प्रायश्चित करने को बाध्य करता है, तो वह शूद्र और उसके साथ वह व्यक्ति भी असंवृत्त नामक नरक में डूब जायेगा।[२२]
(१५) शूद्रों को सोलह संस्कारों में से विद्यारंभ, उपनयन, चूडाकर्म जैसे प्रमुख संस्कारों से वंचित रखा गया।

(१६) उन पर अनेक प्रकार की सामाजिक निर्योग्यताएँ थोपी गयीं, जैसे- सामाजिक सम्पर्क पर रोक, सामाजिक वस्तुओं के उपयोग पर प्रतिबंध, शिक्षा और मनोरंजन की सुविधाओं पर प्रतिबंध, आदि-आदि। इन प्रतिबंधो के रहते वे सार्वजनिक स्थानों का प्रयोग नहीं कर सकते थे। वे पीतल तथा कांसे के बर्तनों का प्रयोग नहीं कर सकते थे। अच्छे वस्त्र और सोने के आभूषण नहीं पहन सकते थे। दुकानदार इन्हें सामान नहीं बेचता था। धोबी इनके कपड़े नहीं धोता था, नाई इनके बाल नहीं बनाते थे। यह स्थिति गाँवों में आज भी बनी हुई है जिसे पूर्ववर्ती पृष्ठों में निर्दिष्ट किया गया है।

(१७) उपर्युक्त धार्मिक एवं सामाजिक निर्योग्यताओं के अतिरिक्त उन पर कई आर्थिक निर्योग्यताएँ भी मिलती हैं, जैसे- व्यावसायिक निर्योग्यता, सम्पत्ति संबंधी निर्योग्यता, उनकी सेवाओं के बदले नकदी रकम का न देना आदि-आदि। इनके चलते इन लोगों को मल-मूत्र उठाने, सफाई करने, मरे हुए पशुओं को उठाने, चमड़े के जूते बनाने जैसे काम करने पड़ते। इनको छोड़कर ये कोई दूसरा काम नहीं कर सकते थे। इन्हें भूमि-अधिकार तथा धन-संग्रह की आज्ञा नहीं थी। अव्वल तो व्यवस्था ही ऐसी की गई कि उनके पास कभी दो पैसे जमा ही न हो सके, क्योंकि उनकी सेवाओं के एवज में उनको जूठन और फटे-पुराने वस्त्र दिए जाते थे। ब्रिटिशरों के आने तक उनको जमीन धारण करने का भी अधिकार नहीं था। जगदीशचन्द्र के उपन्यास

का नाम "धरती धन न अपना" यों ही नहीं रखा गया है।

(१८) धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक निर्योग्यताओं के अतिरिक्त उन पर कुछ राजनीतिक निर्योग्यताएँ भी थोपी गयी थीं। उन्हें शासन के कार्य में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप करने, कोई सुझाव देने, सार्वजनिक सेवाओं के लिए नौकरी प्राप्त करने, राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त करने जैसा कोई अधिकार नहीं था। प्रथमत: उन्हें शिक्षा से वंचित किया गया, अत: दूसरी प्रकार की सेवाओं की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। अस्पृश्यों को कोई भी अपमानित कर सकता था, यहाँ तक कि पीट भी सकता था, उनकी स्त्रियों का यौन-शोषण किया जाता था। और ऐसे व्यवहारों के खिलाफ कहीं शिकायत दर्ज नहीं कर सकते थे, परन्तु दूसरी तरफ उनके सामान्य से अपराध के लिए भी कठोर दण्ड की व्यवस्था थी।[२३]

अस्पृश्यों के भीतर भी संस्तरण (Hierachy):-

एक शातिर योजना :-

लोग वर्णव्यवस्था को आदर्श मानते थे, किन्तु उसी व्यवस्था ने भारतीय समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया है। उनके कारण अनेक जातियों का निर्माण हुआ। यह भी एक "मीथ" रचा गया कि अंग्रजों ने हमारे देश में "फूट डालो और राज्य करो" (Divide & rule) की नीति चलाई ; किन्तु यदि इतिहास को ठीक ढंग से देखा जाए तो ज्ञापित होगा कि यह नीति तो भारत में ब्राह्मणों और पुरोहितों द्वारा पहले से ही चलायी जा रही थी। इसलिए उन्होंने एक जाति के भीतर अनेक उपजातियों का निर्माण करके उनके बीच जातिगत ऊँच-नीच का संस्तरण (Hierachy) चलाया, जिसमें समाज हमेशा विभाजित और असंगठित रहे और उनका समाज में स्थान सर्वोपरि बना रहे। देश की सुरक्षा जैसे महत्वपूर्ण मुद्दे से अलग रहकर भी शासन की धुरा तो

उनके ही पास रहती थी, क्योंकि राजा भी उनके अधीन था। राजा को भी ''क्षत्रियत्व'' का ठप्पा तो उन्हीं से लगवाना पड़ता था। यह एक चतुर और शातिर व्यवस्था थी। जाति-व्यवस्था और ऊँच-नीच की विभावना को न्यायिक ठहराने के लिए उन्होंने इसे अस्पृश्य जातियों में भी शुरू किया, ताकि उन्हें यह कहने में सहूलियत रहे कि देखो यह तो ईश्वर का विधान है और सर्वत्र है , तुम्हारे में भी है कि नहीं ? यह एक मनोवैज्ञानिक हकीकत है कि हर व्यक्ति स्वयं को दूसरे से श्रेष्ठ मानता है और उसमें ही उसे एक प्रकार की आत्मिक-संतुष्ठि मिलती है । यह ''दूसरा'' सबसे ऊपर वाला नहीं होता, अपने नजदीक का होता है । ब्राह्मण सोचता है कि मैं क्षत्रिय से ऊँचा हूँ, क्षत्रिय सोचता है मैं वैश्य से ऊँचा हूँ और वैश्य सोचता है मैं शूद्र से ऊँचा हूँ । और फिर यह विष-चक्र जातियों में भी चलाया गया। शूद्रों में कभी-कभी सुगबुगाहटन हो, अतः उनमें भी ऊँच-नीच की व्यवस्था कर दी गई। ''धरती धन न अपना'' के काली और ज्ञानो की जाति तो एक हैं, दोनों दलित हैं, शूद्र हैं ; किन्तु वहाँ भी भेद हैं और उनके चलते उनकी शादी नहीं हो सकी और ज्ञानो को जहर देकर मार डाला गया ।[२४] इतिहासकार डॉ.के.एम.पणिकर ने कहा हैं कि-

''विचित्र बात यह है कि स्वयं अछूतों के भीतर एक पृथक जाति के समान संगठन (या असंगठन ?) था।..... सवर्ण हिन्दुओं के समान उनमें भी बहुत उच्च और निम्न स्थितिवाली उपजातियों का संस्तरण था, जो एक-दूसरे से श्रेष्ठ होने का दावा करती थीं ।''[२५] ऊपर जिस उपन्यास का उल्लेख किया गया है उसमें काली और सन्तासिंह का प्रसंग आया है । काली और संतासिंह दोनों शूद्र-दलित हैं, पर संतासिंह स्वयं को काली से ऊँची जाति का मानता है और इसलिए एक स्थान पर उसके मुँह से निकल जाता है-
''मुझे नंदसिंह ने बताया था कि काली और निक्कू में झगडा हो गया है । उस समय मुझे समझ में नहीं आया कि तेरा नाम ही काली है । सच्ची पूछो तो गाँव में कुत्तों और चमारों की पहचान रखना मुश्किल हैं । आते-जाते रहते

हैं ना।''[२६] इस प्रकार जहाँ ''स्त्री ही स्त्री की शत्रु है'' वाला मिथ चलता है, वहाँ ''पिछड़ा ही पिछड़े का दुश्मन है'' ऐसा एक मिथ भी गढ़ा जा रहा है। सतही दृष्टि से यह सही लगता है, किन्तु इसे कारगर बनाने में एक सोची-समझी- गहरी साजिश है।

अस्पृश्यता का प्रारंभ कब से ?:-

प्रारंभ में तीन वर्ण थे। चौथे शूद्र वर्ण का उद्‌भव बहुत बाद में हुआ। डॉ. अम्बेड़कर शूद्र को पृथक वर्ण न मान उन्हें क्षत्रिय ही मानते हैं। सर हर्बट रिस्ले ने इस बात की पुष्टि की थी कि आर्यों में दो जातियाँ थीं। डॉ. गुहा ने अपने ग्रंथ का ''एन्थ्रोपोमट्रिक सर्वे आफ इण्डियन पीपल'' में सन् १९३६ में यही स्थापित किया था। डॉ. अम्बेड़कर भी इसी मत के हैं।[२७] डॉ. अम्बेड़कर शूद्रों को आर्यों की ही एक उपजाती मानते हैं, जिसे ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष के परिणाम-स्वरूप कालान्तर में निम्नवर्णीय करार दे दिया गया। ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष के फलस्वरूप जो क्षत्रिय ब्राह्मणों के अनुकूल रहे होंगे वे तो क्षत्रिय रहे, किन्तु जिन्हों ने ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व को नहीं स्वीकारा, उनके लिए चौथा और सबसे निकृष्ठ वर्ण शूद्र निकाला गया। इस नवोद्‌भवित शूद्र वर्ण पर द्वेष और ईर्ष्या के कारण शनै: शनै: नयी-नयी निर्योग्यताएँ थोपी जाती रहीं जिनका उल्लेख ऊपर हम कर चुके हैं। शूद्रों को पहला झटका वहाँ दिया गया जहाँ उनको नीचा दिखाने के लिए उन्हें उपनयन संस्कार से वंचित कर दिया गया। फिर उनका नि:शस्त्रीकरण हुआ। उनको शिक्षा से वंचित किया गया। धार्मिक अनुष्ठानो से वंचित किया गया और अंन्ततोगत्वा उनको अस्पृश्य करार दिया गया।

डॉ.अम्बेड़कर ने अपनी महत्वपूर्ण खोजों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि लगभग सन् ४०० ई. के बाद अस्पृश्यता अस्तित्व में आयी हैं। डॉ. अम्बेड़कर ने इस संदर्भ में निम्नलिखित मूलभूत स्थापनाएँ दी हैं -

(१) हिन्दू और अस्पृश्यों में वंश (प्रजाति) विषयक कोई भिन्नता नहीं है।

(२) अस्पृश्यता के अस्तित्व के पूर्व हिन्दू और अछूतों के बीच केवल दलगत भिन्नता थी। दल से छिन्न-भिन्न हुए, विलग हुए ही पीछे से अस्पृश्य कहलाये।

(३) जिस प्रकार वंश की भिन्नता अस्पृश्यता का आधार नहीं हैं, ठीक उसी प्रकार व्यावसायिक भिन्नता भी उनके अस्पृश्यता का आधार नहीं है।

(४) अस्पृश्यता की उत्पत्ति के मुख्य दो कारण हैं -

(क) छिन्न-भिन्न हुए (Scattered) बौद्ध थे और इन बौद्धों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना के कारण।

(ख) अन्य लोगों ने गोमांस खाना छोड़ दिया पर उपर्युक्त छिन्न-भिन्न वर्ग ने गोमांस खाना चालू रखा।

(५) अस्पृश्यता के कारणों की पड़ताल के समय हमें एक सावधानी बरतनी होगी कि ''अस्पृश्यता'' और ''अपवित्रता'' ये दोनों भिन्न अवधारणाएँ हैं। जितने रूढ़िवादी हिन्दू लेखक हैं उन्हों ने इन दोनों को एक मान लेने की गलती की है। वास्तव में दोनों अलग-अलग है।[२८]

'' डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर : संपूर्ण अक्षरदेह : ग्रंथ-१४ में डाक्टर साहब ने इस की विशद मिमांसा की है। इस ग्रंथ में उन्होंने सिद्ध किया है कि ब्राह्मण भी पहले गोमांस खाते थे। यज्ञों में पशुओं की, विशेषत: गाय-बैलों की बलि चढाई जाती थी। कामेष्ठी-यज्ञ में गाय-बैल की बलि का न केवल उल्लेख मिलता है, बल्कि उसकी विधि का भी विधिवत् उल्लेख मिलता है, जैसे पूषण के लिए काली-गाय, रूद्र के लिए लाल गाय की बलि देना चाहिए आदि-आदि।[२९] आपस्तंब-सूत्र में कहा गया है कि -''गाय और बैल पवित्र होते है : अत: उनको खाना चाहिए।'' (१५,१४,२९)[३०] यज्ञ के लिए 'मधुयर्क' का विधान है और 'मधुयर्क' के लिए गाय के मांस की विशेष आवश्यकता रहती थी।[३१] अतिथि का स्वागत गाय के मांस से किया जाता था और इसीलिए तो अतिथि को ''गोहन'' कहा गया हैं।[३२]

यहाँ तक की पशु-बलि के मांस के वितरण की व्यवस्था भी एतरेय ब्राह्मण में दी गई हैं : जबड़े के दोनों बाजू की हड्डियाँ और जिह्वा ''प्रस्तोता'' को , बाज के आकार की छाती ''उद्गाता'' को, गला और तालु ''प्रतिहर्ता'' को, कमर नीचे का दायीं बाजू का हिस्सा ''होतृको'' बायीं बाजू का हिस्सा ''ब्रह्म'' को, दायी जांघ ''मैत्रावरूण'' को बायीं जांघ ''ब्राह्मणाच्छाओं'' को, खांध-सहित दायीं बाजू ''अध्वर्यु'' को आदि-आदि।[३३] (यह सूची अभी और भी विस्तृत है) एतरेय ब्राह्मण में जो उक्त विधान है उससे तो असंदिग्धतया यह स्पष्ट होता है कि ''बलि-पशु'' के मांस का सारा का सारा हिस्सा तो ये ब्राह्मण ही ले जाते थे और यज्ञ करानेवाला गृहस्थ के हिस्से में तो बहुत कम मांस आता था।[३४]

अत: इतना तो प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण पहले गोमांस खाते थे । तो फिर प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने गोमांस ही नहीं मांस तक खाना क्यों छोड़ दिया। उसका उत्तर देते हुए डॉ.बाबा साहब आम्बेड़कर उसका कारण ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष को बताते है। जब बौद्ध भिक्षु मांस खाते थे तो ब्राह्मणों के लिए मांस छोडना आवश्यक न था। फिर भी ब्राह्मणों ने मांसाहार को त्यागकर शाकाहार को अपनाया। उसका कारण सिर्फ और सिर्फ यह था कि जनता की दृष्टि में वे बौद्ध-भिक्षुओं के साथ रहना नहीं चाहते थे । यदि ब्राह्मण केवल यज्ञ करना और उसमें गोवध करना छोड़ते तो उसका एक मात्र सीमित परिणाम यह आता है कि ज्यादा से ज्यादा उनको बौद्धों के समकक्ष माना जाता। परन्तु वे तो हर हालत में श्रेष्ठ बने रहना चाहते थे । अत: उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक शकवर्ती निर्णय लिया। उन्होंने मांसाहार को ही छोड़ दिया। इस क्रम में उन्होंने ''गोपूजा'' का आरंभ किया।[३५]

इस संदर्भ में डॉ.अम्बेड़कर लिखते है कि ब्राह्मणों की यह नीति बिलकुल वैसी है जैसी वामपंथियों को परास्त करने हेतु दक्षिणपंथी अपनाते है।[३६] अपना श्रेष्ठत्व कायम रखने के लिए धीरे-धीरे उन्होंने ''गोहत्या''

और ''ब्रह्म-हत्या'' को महापातक के रूप में सिद्ध कर दिया । प्रो. विन्सेण्ट स्मिथ को इस बात का आश्चर्य होता है कि अशोक ने शिलालेखों में कहीं ''गोवध'' को अपराध की कोटि में नहीं रखा है । डॉ.अम्बेड़कर इस संदर्भ में लिखते हैं कि इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है । बौद्ध धर्म सामान्यतया यज्ञ में होनेवाली पशु-बलि का विरोधी था । उन्हें गाय के लिए कोई विशेष ममता नहीं थी, अत: उसके लिए कोई खास विधान या कानून की आवश्यकता उन्हें महसूस नहीं हुई । वस्तुत: यह विधान गुप्त-काल में आया है । जो हिन्दू धर्म यज्ञ में 'गोवध' की अनुज्ञा देता था उसी हिन्दु धर्म के अनुयायी गुप्त नरेशों ने 'गोवध' को महापातक घोषित किया ।[३७] अपने मत की पुष्टी में उन्होंने डॉ.भाण्डारकर के कथन को उद्धृत किया है- ''अपने पास इस बात के लिए शिलालेखों का अकाट्य प्रमाण हैं कि पाँचवी शताब्दी के प्रारंभ में 'गोवध' को एक भयानक पाप माना जाता था । इतना ही भयानक जितना एक ब्रह्महत्या को माना गया । अपने पास सन् ४६५ का एक ताम्रपत्र-लेख हैं जो गुप्तवंश के नरेश स्कन्दगुप्त के शासनकाल का है । यह एक दानपत्र है जिसके अंतिम श्लोक में लिखा गया है कि जो कोई इसमें हस्तक्षेप करेगा वह ''गोहत्या'' गुरूहत्या अथवा ब्राह्मणहत्या के पाप का भागी बनेगा ।''[३८]

अत: गोमांसाहार के कारण अस्पृश्यता आयी यह बात भी पूर्णतया सत्य नहीं है । प्रथमत: ब्राह्मणों ने बौद्धों के कारण गोमांसाहार छोड़ा । फिर श्रेष्ठत्व के चक्कर में उन्होंने मांसाहार तक को छोड़ दिया । जब ब्राह्मणों ने गोमांसाहार छोड़ा तब अब्राह्मण तो गोमांसाहार करते ही थे, किन्तु जब ब्राह्मणों ने मांसाहार छोड़ा तब कदाचित अब्राह्मणों ने गोमांसाहार छोड़ा होगा । यह वह समय है जब 'गोवध' को महापातक सिद्ध किया गया । परन्तु उसके पहले धनवान अब्राह्मण हिन्दु अपने पशुओं का मांस खाते थे । किन्तु ऊपर जिस ''दल-विच्छिन्न'' लोगों की बात कही गयी है , वे लोग इतने गरीब और कंगाल थे कि जिस समय दूसरे अब्राह्मण वर्ग के लोग मारे हुए पशु का ताजा मांस खाते थे, उस समय ये ''दल-विच्छिन्न'' लोग मृत पशु का

मांस खाकर गुजारा करते थे । गुप्त राजाओं ने 'गोवध' विषयक जो कानून बनाया था वह कानून इन ''दल-विच्छिन्न'' लोगों पर लागू नहीं होता था, क्योंकि वे तो ''गोवध'' करते ही नहीं थे । वे तो मृत गाय या पशु का मांस खाते थे । अत: उनका कार्य न कानून के विरूद्ध था और न अहिंसा के सिद्धान्त के ।[३९] अत: उन्होंने मृत गाय के मांस को खाना चालू रखा और शायद यही उनकी अस्पृश्यता का सबब भी बना । डॉ.अम्बेड़कर ने फाहियान, ह्युएनसांग तथा बाणभट्ट द्वारा प्रतीत कादम्बरी के साक्ष्यों द्वारा यह प्रमाणित किया है हमारे देश में सन् २०० तक अस्पृश्यता नहीं थी । सर्व-प्रथम गुप्त नरेशों ने ''गोवध'' को अपराध बताया, उसके बाद गाय पूज्य हो गई, तब से लेकर अर्थात् सन् ४०० से ६०० तक में धीरे-धीरे भातीय हिन्दू समाज में अस्पृश्यता का समावेश हुआ । इस संदर्भ में डॉक्टर साहब कहते हैं- ''अत: हम विश्वास के साथ कह सकते है कि अस्पृश्यता सन् ४०० ई. के आसपास किसी समय पैदा हुई और वह बौद्धधर्म तथा ब्राह्मण धर्म के सर्वोपरिता के संघर्ष से पैदा हुई । इस संघर्ष ने भारत के इतिहास को पूर्णतया बदल दिया है, खेद इस बात का है कि भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों ने (अध्येताओंने) उसके अध्ययन की ओर घोर उपेक्षा की है ।''[४०]

कोचीन की सरकारी रिपोर्ट :-

इस अस्पृश्यता के कितने भयंकर परिणाम आए उसे हम कोचीन सरकार की रिपोर्ट में देख सकते हैं । ब्रिटिश शासन के प्रारंभ में नीच जातियों के करोडों हिन्दु अछूत माने जाते थे । इनके साथ असह्य और अकथनीय व्यवहार होते थे । दक्षिण में तो यह प्रथा उग्रतम रूप में थी । वहाँ उच्च जातियाँ नीच जातियों के स्पर्श ही नहीं, छायातक से अपवित्र हो जाती थी । डॉ. हरिदत वेदालंकार अपने ग्रंथ ''भारत का सांस्कृतिक इतिहास'' में लिखतें हैं-'' कोचीन की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ब्राह्मण नायर के स्पर्श से दूषित समझे जाते थे किन्तु कम्मलन (राज, बढ़ई, लुहार, चमार) ब्राह्मणों

को २४ फीट की दूरी से अपवित्र कर देता था, ताड़ी निकाल ने वाला ३६ फीट से, चेरूमत कृषक ४८ फीट से, और परेमन (गोमांस-भक्षक परिहा) ६४ फीट से । यह संतोष कीबात थी कि इससे पुरानी रिपोर्ट में परिहा ७२ फीट की दूरी से अपवित्र करनेवाला माना गया हैं । अभागे अछूत शहरों से बाहर रहते थे, मंदिरो में इनका प्रवेश वर्जित था, क्येंाकि सब भक्तों का उद्धार करनेवाला देवता भी इनके दर्शन से दूषित हो जाते थे । ये कुओं से पानी नहीं भर सकते थे, अस्पतालों और पाठशालाओं का लाभ नहीं उठा सकते थे । ये उच्च वर्ग के बेगार आदि के अत्याचार सहते हुए बड़े दुख से अपने नारकीय जीवन की घडियाँ गिनते थे ।''[४१]

नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएँ एवं विशेषाधिकार :-

जाति-व्यवस्था में उच्च जातियों के कई सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं जबकि निम्न एवं अछूत जातियों को उनसे वंचित रखा गया हैं, इतना ही नहीं उन पर अनेकानेक अमानवीय निर्योग्यताएँ भी थोपी गई हैं । खास तौर पर दक्षिण भारत में अछूत जातियों पर अनेक निर्योग्यताएँ लादी गयीं हैं । मालाबार के इजावाद लोगों को जूते पहनने, छाता लगाने एवं गाय का दूध निकाल ने की मनाही थी । पेशवाओं के राज्य पूना में महर एवं भंग जातियों को सायंकाल तीन बजे से प्रात: नौ बजे तक शहर में प्रवेश की इजाजत नहीं थी क्योकि उस समय परछाईयाँ लम्बी होने से किसी द्विज पर पड़ जाने और उसके अपिवत्र हो जाने का अंदेशा रहता था । पंजाब में हरिजन शहर में चलते समय लकड़ी के गट्टे बजाता था जिससे कि लोगों को ज्ञात हो जाए कि अछूत आ रहा है और वे मार्ग से दूर हट जाये । उन्हे सड़क पर थूकने की मनाही थी, अत: थूकने के लिए वे गले में एक बर्तन लटकाया करते थे । अछूतों को स्कूल, मंदिर, तालाब, कुओं एवं सार्वजनिक स्थानों पर एवं बगीचों के उपयोग की मनाही थी । अछूतों की बस्तियाँ गाँव से दूर होती थीं । इस प्रकार उच्च जातियों को जहाँ सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त थे, वहाँ अछूतों पर अनेक अमानवीय पशु से भी बदतर

ऐसी निर्योग्यताएँ थोपी गयीं थी।[४२]

दलित-विमर्श- यात्रा :-

यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष के फलस्वरूप शुद्र नामक चौथे वर्ण का उद्भव हुआ और ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष के कारण ''छिन्न-विछिन्न दल'' (Scattered) से अस्पृश्यता अस्तित्व में आयी। उसके बाद शुद्र और अस्पृश्यों पर निरंतर नयी-नयी निर्योग्यताओं को थोपे जाने का एक अनवरत क्रम शुरू हो गया और उनकी स्थिति बद से बदतर होती गई। यह पूर्ववर्ती पृष्ठों में निर्दिष्ट-किया गया है कि भारत में अस्पृश्यता की शुरूआत लगभग ४०० ई. के बाद से हुई है।

जहाँ तक हिन्दी साहित्य का प्रश्न है शूद्रों की दलित-स्थिति के विरोध में, जातिगत ऊँच-नीच के विरोध में चिंतन-मनन (दलित-विमर्श) का प्रारंभ आदिकाल के अंतर्गत सिद्धों और और नाथों द्वारा हो गया था। उनका समय आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का माना गया है। प्रसिद्ध सिद्ध कवि सरहपा का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अनुमानित हुआ है।[४३] यह तो एक सुप्रसिद्ध तथ्य है कि सिद्ध साहित्य का उद्भव ही बौद्धमत से हुआ है जो प्रारंभ से ही जातिगत असमानता का विरोधी रहा है। यह भी सर्वविदित है कि अधिकाशं सिद्ध कवि निम्न जाति के रहे हैं। सरहपा के संदर्भ में कहा गया है कि उनका जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ था, परन्तु बाद में वे बौद्ध हो गये। इनके अन्य दो नाम मिलते है- राहुल और सरोजवज्र। राहुल बौद्ध -परंपरा का नाम है और सरोजवज्र बौद्धमत से निःसृत वज्रयान से सम्बद्ध हैं। उन्होंने शर बनानेवाले की कन्या से विवाह किया था, अतः वे सरहपा कहलाये।[४४] शर बनानेवाली जाति अर्थात् निम्न और पिछड़ी जाति। आज की दृष्टि से विचार करें तो उसे हम अनुसूचित जनजाति (Scheduled) में रख सकतें हैं। अधिकाशं विद्वानों ने सरहपा को हिन्दी का प्रथम कवि माना हैं।[४५] और इस दृष्टि से विचार करें तो दलित-विमर्श का प्रारंभ

ही हिन्दी के प्रथम कवि से होता है । सिद्धों का दर्शन ही निरश्वरवादी हैं जो ब्राह्मणों के ईश्वर और देवतावादी दर्शन से भिन्न पड़ता है ।

सिद्धों के बाद नाथ आते हैं । नाथ भी ऊँच-नीच और जातिवाद का विरोध करते हैं । सिद्धों के निरश्वरवादी शून्य को नाथों ने ईश्वरवादी शून्य के रूप में प्रतिष्ठित तो किया है, किन्तु उसका यह ईश्वर निर्गुण-निराकार और सर्वव्यापक है । वे बाह्य साधनों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं । पुस्तक-विद्या और वेदशास्त्र के अध्ययन को व्यर्थ बताते हैं । उन्होंने शास्त्रज्ञ विद्वानों का स्थान-स्थान पर मज़ाक भी उड़ाया हैं । [४६] वर्ण-व्यवस्था को निरर्थक घोषित करने के कारण निम्नवर्ण की जनता को इस संप्रदाय में विशेष आकर्षण दिखाई देने लगा था । उनके एकेश्वरवाद के सिद्धांत के कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के लोगों पर उनका प्रभाव पड़ रहा था । [४७] दूसरे नाथपंथ की भाषा भी "सधुक्कड़ी" थी जो आम जनता के अधिक करीब थी ।

इस-बीच में मुसलमानों का आगमन हो चुका था और सदियों से दलित एवं प्रताड़ित जातियों के सामने एक नया विकल्प इस्लाम के रूप में खुल रहा था । हिन्दू धर्म में धर्म और शास्त्र के नाम पर अछूत जातियों पर अमानवीय अत्याचार हो रहे थे, अत: ऐसे कई लोगों ने इस्लाम का स्वागत किया । डॉ.रामधारीसिंह दिनकर इस संदर्भ में लिखते हैं- " और सच यह भी है कि मुस्लमान तलवार के जोर से नहीं बढ़े, भारतवासियों ने उनका सामना ही नहीं किया । इस प्रकार, इस्लाम भारत में केवल खड़ग-बल से ही नहीं फैला । हिन्दू समाज में वेद-विरोधी आंदोलन इस्लाम के उदय से, कम से कम, एक हजार वर्ष पहले ही छिड़ चुका था और बहुत से लोग वेद , ब्राह्मण, प्रतिमा और व्रत-अनुष्ठानों मे विश्वास खो चुके थे । धर्म-परिवर्तन के अधिक आसान शिकार ये ही लोग हुए । इस्लाम ने बहुत-से ऐसे लोगों को अपने वृत्त में खींच लिया जो अछूत होने के कारण अपमानित हो रहे थे । और बहुत से लोग इसलिए भी मुसलमान हो गए, चूंकी प्रायश्चित के

नियम हिन्दूओं के यहाँ थे ही नहीं।''[४८] अन्यत्र इसी ग्रंथ में दिनकरजी ने लिखा हैं- ''जब मुसलमान इस देश में आये तब इन लोगों का मन (जो वेदधर्म वर्णाश्रम तथा ब्राह्मण-धर्म के विरूद्ध थे और जो हिन्दूओं द्वारा प्रताड़ित थे) डोलने लगा। वैदिक धर्म में इन्हें इज्जत नहीं थी। उधर जिस निराकार भावना का इन लोगों के बीच प्रचार था, इस्लाम भी इसी निराकारोपासना को लेकर आया था। पूर्वी बंगाल के वेद बाह्य संप्रदायों के ध्वंसावशेष कई धार्मिक संप्रदाय ऐसे थे जिन्होंने मुसलमानों को अपना त्राणकर्ता समझा। वे समूह रूप में मुसलमान हो गये। पंजाब में भी नाथों, निरंजनों और पशुपतों की अनेक शाखाएँ मुसलमान हो गयीं। गोरखनाथ के संप्रदाय में अनेक बौद्ध, शैव, शाक्त संप्रदाय अन्तर्भुक्त हुए, परन्तु इस संप्रदाय के भी बहुतेरे गृहस्थ मुसलमान हो गये।''[४९]

इसलिए जो लोग यह मानते है कि इस्लाम का प्रचार तलवार के बल पर हुआ यह पूर्णतया सत्य नहीं है। जबरदस्ती मुसलमान उनको बनाया गया होगा जो ताकतवर थे, संपन्न थे और जिनसे उनको फायदा हो सकता था। दूसरे दकियानूस पंड़ितो के चलते हिन्दु धर्म में प्रायश्चित या शुद्धिकरण का कोई रास्ता नहीं था। यह बात तो बहुत बाद में स्वामी दयानंद सरस्वती ने उठायी कि शुद्धिकरण की प्रक्रिया द्वारा किसी को पुन:हिन्दू बनाया जा सकता है। अन्यथा मौलाना मुहम्मद काजिम मुरादाबादी के इतिहास में तेरहवीं सदी के किसी रतनजू नामक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है, जो शायद हूण या शक खानदान का था। कश्मीर के राजा सहदेव की राजसभा में वह किसी ऊँचे पद पर था। हिन्दू धर्म पर उसकी श्रद्धा थी और वह हिन्दू होना चाहता था, किन्तु पंड़ितों ने उसे हिन्दू बनने नहीं दिया। परिणामत: वह मुसलमान हो गया और उसके मरने के बाद उसका बेटा शाह मीर सहदेव को मारकर स्वयं राजा बन बैठा। जिन ब्राह्मणों ने रतनजू को हिन्दू बनने नहीं दिया था, उन सबको शाह मीर ने बोरों में बन्द करवाकर झेलम में डाल दिया। श्रीनगर में जहाँ पे लोग डुबोये गये थे, वह स्थान आज भी ''वट-मजार''के नाम से प्रसिद्ध हैं।[५०]

बंगाल के इतिहास में जिसे ''काला पहाड़'' के नाम से जाना जाता है वह स्वयं पहले हिन्दू था और ब्राह्मणों के अत्याचारों से आरिज़ आकर मुसलमान हुआ था। इतिहास इस बात का गवाह हैं कि उसने बाद में असंख्य बंगाली हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। [५१]

सिद्धों और नाथों के पश्चात दलित-विमर्श में एक नया और उज्जवल अध्याय जुड़ा भक्तिकाल के निर्गुणधारा के संतकाव्य का। कबीर इस धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। कबीर एक क्रान्तदृष्टा और क्रांतिकारी और विद्रोही सन्त है। यह भी सत्य है कि रहस्यवादी स्वभावत: विद्रोही होता है। कबीर ने उन तमाम स्थापित जीवन-मूल्यों को जो मानवता-विरोधी थे , जो धर्म और शास्त्र की आड लेकर मानवता का ही गला घोंटते थे, जो झूठी सामाजिक मर्यादाओं और परंपराओं के नाम पर मानव-अस्मिता को शिंग (अंगूठा) पर रखते थे एक विद्रोहात्मक स्वर में चुनौती दी और वह भी चुनौती की भाषा में - अपने को प्रकटत: '' काशी का जुलाहा'' कहते हुए । हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्म के कट्टरवादी तत्वों को ललकारने का, फटकारने का काम कबीर ने किया है। वस्तुत: हमारी परंपरा का प्रथम धर्म-निरपेक्ष (Secular) कवि तो कबीर है। कई लोग भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कहतें हैं- हम इसमें एक बात जोड़ना चाहते है कि वह स्वर्णयुग है, पर उसका सारा ''क्रेडिट'' कबीर आदि सन्त कवियों को जाता है। कबीर के संदर्भ में मेरे निर्देशक डॉ.पारूकान्त देसाई का निम्नलिखित कथन मैं यहाँ उल्लेखनीय समझता हूँ -

''कबीर युगान्तकारी कवि है। धर्म के नाम पर चलनेवाले ढकोसलों का पर्दाफाश करने में उनका कोई सानी नहीं है। निर्भीकता और खुद्दारी उनके व्यक्तित्व की पहचान है। अपनी बातों पर वे चट्टान की तरह अटल है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि ज्ञानाश्रयी धारा का यह परम ज्ञानी कवि अनपढ़ और निरक्षर था। परन्तु उन्हें अशिक्षित या अदीक्षित नहीं कह सकते। संसार की खुली विश्वविद्यालय के वे सफे-सफे पढ़ गए थे। ''सब कहते

पुस्तक की लेखि, मैं कहता आँखिन की देखी'' कहनेवाला, हिन्दूओं और मुसलमानों को उनके ढ़कोसलों के लिए फटकारने वाला... मस्तमौला शाहों का शाह और फकीरों का फकीर कवि कबीर दृष्टि की एक विराटता लेकर मध्यकाल में अवतरित हुआ, जिसका प्रभाव आज भी हिन्दुस्तान के कोने-कोने में गूंज रहा है और जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है , जितना तब था।... कबीर नाम है एक चेतना का, कबीर नाम है एक संदेश का, कबीर नाम है एक जिहाद का, जो सारे भेदो को ताक पर रखकर इन्सान और इन्सान के बीच खींचीं गई दिवारों को ढहाने में सदियों से लगा हुआ हैं। हिन्दी का प्रथम दार्शनिक कवि, प्रथम सामाजिक न्याय का कवि , प्रथम व्यंग्य कवि निश्चित ही कबीर है । अत: आज जब भारत की एकता और अखंडता पर कई खतरें कई दिशाओं में मंडरा रहे हैं और देश को विश्रृंखल करने की प्रवृत्तियाँ बलवती हो रही है , तब कबीर- से कवि की चेतना की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है।''[५२]

कुछ लोग कबीर को हिन्दू-मुस्लिम एकता के कवि मानतें हैं , किन्तु यह बात उन लोगों पर लागू होती है जो इन दोनों धर्मों के कट्टरतावादी तत्वों को न मानते हुए, दोनों में विद्यमान आडंबरो और ढकोसलों को छोड़कर धर्म के सच्चे रूप पर आना चाहते थे। अत: कबीर दोनों के साथ भी थे और दोनों के विरोध में भी। साथ उनके थे जो सच्चे हिन्दू या मुसलमान थे, विरोध में उनके थे जो न सच्चे हिन्दू थे न सच्चे मुसलमान। अपने जीवनकाल में कबीर को अनेक कष्ट सहने पड़े थे। अनेक यातनाएँ झेलनी पड़ी थीं ,अनेक कुत्साओं पराभवों और अपमानों का सामना करना पड़ा था। उनके समर्थक और शत्रु दोनों ही धर्मों के लोग हुए। उनके संदर्भ में डॉ.रामधारीसिंह कहते हैं- '' कबीरदास भारत के अत्यन्त महान क्रान्तिकारी पुरूष हुए है । उनकी बड़ाई केवल इसी बात के लिए नहीं है कि उन्होंने साहसपूर्वक हिन्दुओं और मुसलमानों की आँखों में उंगली डालकर उन्हें यह समझाया कि मंदिर और मस्जिद के सवाल पर झगड़ने से बढ़कर मूर्खता का

कोई और काम नहीं हो सकता ; अपितु इसलिए भी की संस्कृत के विरूद्ध उन्होंने भारत में नवीन भाषा की पताका फहरायी और संस्कृति का जो नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, उसे उन्होंने निम्न वर्ग के लोगों के हाथों में पहुँचा दिया। कबीर की परंपरा में जो अनेक सन्त और महात्मा जन्में उनमें नानक, रैदास, धन्ना, सुंदरदास, दादूदयाल, रज्जब, मलूकदास, और धरणीदास के नाम अत्यन्त विख्यात हैं और इनमें भी कोई सन्त ब्राह्मण-वंश में नहीं जनमा था। स्वयं कबीरदास हिन्दू या मुस्लिम वर्ग के जुलाहे थे।''[५३] वस्तुतः देखा जाए तो हिन्दू और मुस्लिम दोनों के प्रवर्तमान रूप अधूरे और अपूर्ण है। पूर्णता चाहते हो तो उस धरातल पर उठों जिस पर कबीर का निवास हैं-

'' सूर नर मुनि औ औलिया ये सब बेलें तीर।
अलह-राम की गति नहीं, तहं घर किया कबीर।।
हद छांडि बेहद गया, किया सुन्ति असनान।
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम।।''[५४]

जो काम कभी बौद्धों ने किया था धर्म के नाम पर पशुओं की बलि का विरोध, वही काम कबीर ने किया हैं-

'' हिन्दू की दया मेहर तुरकन की दोनों घर से भागी।
वह करै जिबह, वो झटका मारै, आगि दुओ घर लागी।।''

x x x x

'' साधो, पांडे निपुन कसाई।
बकरी मारि भेड को धाये, दिल में दरद न आई।।
गाय बधे सो तुरूक कहावै, यह क्या उनके छोटे ?
कहै कबीर सुनो भाई साधो, कलि के बाम्हन खोटे।।''

x x x x

'' वेद-कितब छांडि दे पांडे, ई सब मन के भरमा।''[५५]

डॉ. रमेशकुंतल मेघ कबीर के संदर्भ में लिखते हैं-'' युग चक्र में कबीर न तो क्रांतिकारी थे, न विद्रोही। वे सर्वांगीण समाज का पुरा अधिंग्रहण

नहीं करते । वे मूलरूपेण ज्यादातर धर्मधुरी के आडंबरों तथा असंगतियों को दर्शाते हैं । वे प्रतिरोधी (प्रोटेस्टट) थे, न कि विप्लवी (रेडिकल) और ''क्रान्तिकारी'' (रिवोल्युशनरी) । वे ''विद्रोही'' भी नहीं लगते । हाँ विरोधी (अपोजट) है । राजनीतिक-दर्शन के परिभाषिकों का इस्तेमाल उचित रीति से किया जाना चाहिए , विशेषत: साहित्येतिहास में । ज्यादा से ज्यादा वे ''विप्लवी विरोधी'' कहे जा सकते हैं ।..... कबीर की मानसिक निर्मिति में बहुधा ''त्रित्व'' की अपेक्षा ''द्वित्व'' विरूद्धता अर्थात ''द्विपर्ण-विरोध'' (बायनरी अपोजिशन) ही परिलक्षित होते हैं । उनमें न तो इन विरोधों की ''एकता'' हैं और न ही ''समन्वय'' । यह प्रक्रिया तो बहुत बाद में वैष्णव भक्तों ने संपादित की । अतएव कबीर काबा और काशी , राम और रहीम , पीर और बीर , वेद और कितब , पंडित और मुल्ला , माया और स्त्री (सोहागन और दोहागन) प्रेम और ज्ञान , हिन्दू और तुरूक आदि के ''द्वि.वि.'' को आद्योपान्त प्रस्तुत करते हैं ।''[५६]

डॉ. शिवकुमार मिश्र ने अपने ''कबीर और कबीर'' नामक लेख में कबीर को ''सेक्युलर'' कहा है । इस संदर्भ में उनका कहना है- ''वस्तुत: आधुनिक भारत की पहचान ही उसके सेक्युलर होने में है । ''सेक्युलरिज्म'' न तो धर्म-निरपेक्षता हैं , और ना ही सर्व-धर्म समभाव । वह वर्ग, वर्ण, धर्म, नस्ल, संप्रदाय सबसे परे और सबके संस्कारों से परे मनुष्य को मात्र मनुष्य के रूप में देखने-पहचानने वाली दृष्टि है ; और कबीर आदमियत से इसी बिन्दु पर अपने को सेक्युलर होने को प्रमाणित करते हैं । तभी वे निर्द्वन्द और निर्भीक होकर हिन्दू-तुर्क दोनों को फटकारते हैं, दोनों के सामाजिक-धार्मिक रूढ़िवाद की धज्जियाँ उड़ाते हैं, दोनों के सामाजिक-धार्मिक बाह्याचारों और कर्मकांडो पर हंसते हैं, उनकी मखौल करते हैं । आज स्थिति यह है कि अपने को सेक्युलर मानने और कहने वाले-यदि हिन्दू हैं तो हिन्दू धर्म के पाखण्ड और रूढ़िवाद पर लिखते-बोलते इस नाते चुप रहते हैं कि उन्हें गलत समझा जायेगा । यही बात मुसलमान लेखकों-विचारकों पर

लागू होती हैं जो अपने धर्म के, अपने समाज के रूढ़िवाद पर तो लिखते हैं किन्तु दूसरे धर्मों पर टिप्पणी करने में संकोच करते हैं कि उन्हें गलत न समझ लिया जाये। तमाम सारी सेक्युलर जेहानियत के बावजूद दोनों के मन में कहीं अपने हिन्दू या मुसलमान होने का अहसास बरकरार रहता है। कबीर उससे ऊपर उठ सके, इससे अलग हो सके, हमारे समय में प्रेमचन्द ऐसा कर सके, इसी नाते कबीर मध्यकाल को चीरते हुए हमारे अपने समय में हमारे मार्गदर्शक, हमसफर बनते है। आजीवन निष्कम्प और निर्भीक रहकर वे सच्ची आदमीयत की पहचान को रेखांकित करते रहे, समाज और धर्म के प्रभुओं को, पंड़ितों-मुल्लों को, हिन्दुओं-तुर्कों को इस आदमीयत से मुखातिब करते रहे। नानक के साथ मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन में वे अकेली आवाज़ हैं, जिन्होंने भक्ति-आंदोलन को उसके क्रान्तिकारी तेवर से उसे उसकी मानवीय पहचान दी।'' ५७

यह सच है कि कबीर हिन्दू-मुस्लिम दोनों को फटकारते है, दोनों धर्मों में धर्म के नाम पर चल रहे अधर्म को -पाखण्ड को उजागर करते है, उनमें निहित अतार्किकता और अवैज्ञानिकता को ललकारते हैं, और इस निमित्त वे वैज्ञानिक सोच-आधुनिक सोच- सेक्युलर सोच को आगे बढ़ाते हैं। आज फिर जरूरत आ पडी है कि दोनों धर्म में जो धर्म के नाम पर चलाया जाता रहा है, जो मानव मूल्यों के खिलाफ है, उसे विवेक-न्याय-विज्ञान के रूप से छाना जाये, खंगाला जाये और धर्म के सही स्वरूप को सामने लाया जाय। याद रहे कबीर मुसलमानों को तब फटकारते रहे थे जब दिल्ली के तखत पर सिकन्दर लोदी बैठा हुआ था।

यहाँ एक बात की और ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है कि कबीर मूर्तिपूजा और वेद-कितब दोनों को नकारते हैं, उनके पहले नाथो ने भी नकारा था, और पूरी संत-परंपरा उसे नकारती है; कारण स्पष्ट है ये संत ज्यादातर निम्न जाति के, अछूत कही-समझी जानेवाली जातियों के थे, उन्हें मंदिर प्रवेश और वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। अत: उन्होंने उन्हे

ही नकार दीया। जो रास्ता कभी एकलव्य ने अख्तियार किया था वहीं रास्ता अपनाया। बिना मंदिर के, बिना मूर्ति के, ध्यान का रास्ता। पढ़ने का अधिकार नहीं, पाठशाला में नहीं जा सकते, तो कोई बात नहीं गुरू से और सत्संग से सिखेगें। जीवन की पाठशाला से , विश्व की विद्यालय से, आत्म साक्षात्कार से सिखेगें। डॉ. मेघ कहते हैं कि कबीर ''विद्रोही'' नहीं है , विरोधी हैं , किन्तु जो विरोधी होगा, वह परिणामतः विद्रोही भी होगा। उन्होंने हिन्दू तथा मुसलमानों को खुलेआम फटकारा है , यह विद्रोह नहीं तो क्या है ?

तमाम संत कवियों ने प्रवर्तमान ब्राह्मण-धर्म , जिसे वे हिन्दू धर्म कहते है और बताते रहे हैं , के मूल्यों को नकारा है। यही उनका दलित-विमर्श है। भक्तिकाल के संत-कवियों के पश्चात रीतिकाल में रीतिमुक्त कवियों में तथा नीति-विषयक काव्य की रचना करने वालों में यह चेतना थोड़ी बहुत मिलती है। इसे एक बहुत बड़ा ''गैप'' ही कहना चाहिए ।

वस्तुतः दलित-विमर्श का विधिवत् प्रारंभ तो आधुनिक काल में हुआ। आधुनिक काल का ''नवजागरण'' जिसे कई इतिहासकार भारतीय-उत्क्रान्ति (Indian Renaissance) कहते हैं , कई नवीन सामाजिक मानवीय मुद्दों को लेकर आता है। इन मुद्दों में मुख्य दो हैं- नारी-विमर्श और दलित-विमर्श। ब्रह्मोसमाज, प्रार्थना-समाज , आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसायटी जैसी सामाजिक-धार्मिक संस्थाओं के कारण उपर्युक्त दो मुद्दों को लेकर पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है। आर्य समाज ने शूद्रों को भी 'उपनयन' संस्कार का अधिकार दिया। डॉ. दिनकर स्वामी दयानंद सरस्वती के संदर्भ में लिखते हैं- ''जिन बुराईयों के कारण हिन्दू धर्म का ह्रास हो रहा था तथा अन्य धर्मों के लोग जिन दुर्बलताओं का लाभ उठाकर हिन्दुओं को ईसाई बना रहे थे , उन बुराईयों को स्वामीजी ने अवश्य दूर किया , जिससे हिन्दुओं के सामाजिक संगठन में वही दृढ़ता आ गई जो इस्लाम में थी। स्वामीजी ने छुआछूत के विचार को भी अवैदिक बताया और उनके समाज ने सहस्त्रों अन्त्यजों को यज्ञोपवित देकर उन्हें हिन्दुत्व के भीतर आदर का

स्थान दिया।''[५८] सन् १८४९ में बम्बई में ''परमहंस- समाज'' नामक एक संस्था की स्थापना हुई थी। इस संस्था का उद्देश्य ही जाति-प्रथा का भंजन था। इसके सदस्य छिपकर तथाकथित नन्हीं जातिवालों के हाथ की रसोई खाते थे और समझते थे कि छिपकर वे क्रान्ति का बीज-बपन कर रहे हैं। किन्तु एक बार जो यह भेद खुला तो ऊँची जातिवालों में खलबली मच गई। परिणाम यह हुआ कि यह संस्था समाप्त हो गयी। सन् १८६४ ई. में केशवचंद्र सेन बम्बई आये और उन्होंने ब्रह्मोसमाज की शाखा खोलनी चाही, तब उनके प्रभाव से बम्बई में बह्मोसमाज की शाखा ''प्रार्थना-समाज'' के नाम से खुली। इसके प्रमुख चार उद्देश्य थे- (१) जाति प्रथा का विरोध, (२) विधवा-विवाह का समर्थन, (३) स्त्री-शिक्षा का प्रचार, (४) बाल-विवाह का विरोध।[५९] इनमें प्रथम मुद्दे का संबंध दलित-विमर्श से है। तीसरे मुद्दें का भी थोड़ा-बहुत संबंध उससे है। इस प्रकार एक नयी सोच का प्रारंभ हो गया। इस तरह इतिहास के गवाक्ष से देखें तो मुसलमानों तथा ईसाईयों का आगमन प्रकारान्तर से दलितों के हक में रहा। मेरे निर्देशक महोदय कई बार कहते हैं कि मुसलमान आये तो एक कबीर आया और ब्रिटिश आये तो एक अम्बेड़कर आया। उनका यह कथन कुछ मानों में सत्य प्रतीत होता है।

दलित-विमर्श को आगे बढ़ानेवाले १९ वीं और २० वीं शताब्दी के नेता : -

यहाँ हम कुछ ऐसे नेताओं का उल्लेख करने जा रहे हैं जिन्होंने इस दलित-विमर्श को किंचित-मात्र भी आगे बढ़ाया है। उनमें पारस्परिक अतंर्विरोध हैं, किन्तु एक समय-विशेष में उनकी जो भूमिका रही हैं उसे नकारा नहीं जा सकता है। दलितोत्थान और अस्पृश्यता-निवारण में जिन्होंने थोड़ा सा भी योगदान दिया है, उनके योगदान को स्वीकार करना चाहिए। दयानंद सरस्वती में हिन्दू धर्म को ऊपर उठाने की प्रवृत्ति मिलती है। वे हिन्दू धर्म का उद्धार वेदों में देखते है, दूसरी तरफ डॉ. अम्बेड़कर हिन्दू धर्म

को नकारते हैं , किन्तु इस अंतर के कारण स्वामीजी की उन प्रवृत्ति को नकारा नहीं जा सकता जिनमें उन्होंने अस्पृश्यों को 'उपनयन' संस्कार देकर एक आदरपूर्ण स्थान दिलवाने का प्रयत्न किया था। यही अंतर हमें महात्मा गाँधी और अम्बेड़कर में भी मिलता है । जो प्रखरता, जो विरोध और विद्रोह अम्बेड़कर में है ; यह महात्मा गाँधी में नहीं है, क्योकि "सहानुभूति" और "स्वानुभूति" में अंतर हमेशा रहा है और रहेगा। लेकिन केवल इस सबब "सहानुभूति" के मूल्य को कम करके नहीं आंकना चाहिए। यहाँ दलित-साहित्य के बहुत-से विचारकों और साहित्यकारों से मैं सहमत नहीं हूँ । मैं तो इस बात का पक्षधर हूँ कि अस्पृश्यता के पहाड़ को दूर करने में यदि किसी ने एक कंकड़ को भी हटाया है , तो हमें उसकी नोंध लेनी चाहिए। दलित साहित्य आज उभर रहा है , उठ रहा है, अपने अलग मानदण्ड स्थापित कर रहा है , अपना सौन्दर्य-शास्त्र गढ़ रहा है ; लेकिन प्रेमचन्द, उग्र, निराला, नागार्जुन, यशपाल, जगदीशचन्द्र तथा मटियानीजी का इसमें जो अवदान है उसे नकारना उचित नहीं है। संक्षेप में यहाँ मै उन महानुभावों का उल्लेख कर रहा हूँ जिनका दलित -विमर्श से किसी न किसी प्रकार का जुडाव है।

ऐसे महानुभावों में गोपालराव हरिदेशमुख "लोकहितवादी"(सन् १८२३-१८९२), महात्मा ज्योतिबाफुले (सन् १८२७-१८९०),गोपाल गणेश आगरकर (सन् १८५६-१८९५), लोकमान्य तिलक (सन् १८५८-१९२०), महर्षि प्रो.अण्णासाहब कर्वे (१८५८ -१९६२) श्रीमंत महाराजा सयाजीराव गायकवाड (१८६३ -१९३९), गोपाल कृष्ण गोखले (१८६६-१९१५), महात्मा गाँधी (१८६९-१९४८), महर्षि विटठ्ल रामजी शिंदे (१८७३-१९४४), वीर सावरकर (१८८३-१९६६), राजर्षि श्री साहू महाराज (१८८४-१९२२), डॉ.बाबा साहब अम्बेडकर (१८९१-१९५६) आदि के नाम उल्लेखनीय कहे जा सकते है।[६०]

यहाँ लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गाँधी के एतद्विषयक दृष्टिकोण को थोड़ा समझना आवश्यक है । सन् १९२० में बम्बई में दलितोद्धार के

संदर्भ में जो परिषद हुई थी उसमें महर्षि विट्ठल रामजी शिंदे द्वारा तैयार किए गए प्रतिज्ञा-पत्र पर तिलक ने हस्ताक्षर नहीं किए थे । इस बात को लेकर उन पर आरोप हुआ था कि उनकी दलित-विषयक सहानुभूति झुठी और ढोंगी प्रकार की है ।[६१] यह सच है कि तिलक ने दलितों की और से विद्रोहात्मक क्रान्ति का नारा कभी नहीं लगाया और जाति भेद को निर्मूल करने के लिए जिस प्रकार आगरकर इत्यादी ने श्रुति, वेद और पुराणों पर जैसा प्रहार किया, वैसा निर्मम प्रहार तिलक ने कभी नहीं किया । किन्तु दलितोद्धार के साथ जब कभी अस्पृश्यता -निर्मूलन की बात चलती थी ,तब अपनी प्रतिक्रिया देते हुए प्रसंगानुपात कुछ कहते थे जिनसे उनके विचारों पर प्रकाश पडता है । उनके विचार है- ''जो अस्पृश्यता मरने पर रहती नहीं , जो अस्पृश्यता परमेश्वर के घर जाते वक्त आडे नहीं आती, उस अस्पृश्यता को अपने समाज में घूमने-फिरने देना याने परमेश्वर के घर में पाप करने जैसा है । परमेश्वर के घर का दरवाजा किसी के लिए भी बन्द नहीं है । वह दरवाजा बन्द करनेवाला परमेश्वर हो ही नहीं सकता ।''[६२] इस संदर्भ में सर्व श्री नरसिंह केलकर ने अपना समीक्षात्मक मत दिया है-''तिलक स्वयं अस्पृश्यता नहीं मानते थे और सार्वजनिक तो क्या व्यक्तिगत स्थान पर भी इसे न माना जाय ऐसा ही उनका मत था और सनातनी समाज को आहिस्ता-आहिस्ता समझाया जाय तो वह भी उसे निकाल देगा ऐसा उन्हें लगता था ।''[६३] इस प्रकार वे भी इस संदर्भ में महात्मा गाँधी की तरह हृदय -परिवर्तन के सिद्धांत को मानते थे । वे प्रखर नहीं पर इस मामले में प्रबुद्ध जरुर थे ।

डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर (१८९१-१९५६ ई.) :-

दलित-विमर्श को उसके उच्चत्तम शिखर पर पहुँचाने वाले डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर न केवल भारत के बल्कि विश्व के महान नेताओं में अपना अद्विितय स्थान रखते है । वे दलितों के मसीहा के नाम से जाने जाते है । हिन्दू धर्मशास्त्रों ने दलित-वर्ण को सहस्त्राधिक वर्षों तक अशिक्षित रखा था, मानो उसका बदला आज चुकाना हो, डाक्टर साहब ने शिक्षा के

क्षेत्र में भी पीछे मुडकर नहीं देखा। बीसवीं शताब्दी का सर्वाधिक शिक्षित व्यक्ति यदि कोई है तो वह है डॉ.बाबासाहब अम्बेडकर। महात्मा गाँधी की संपूर्ण आजादी में वर्ण-व्यवस्था से आजादी की बात निहित नहीं है।महात्मा तो उसे एक आदर्श व्यवस्था मानते थे। कारण स्पष्ट है, महात्मा स्वयं आदर्श थे, आदर्शों की ऊँचाईयों पर रहते थे, किन्तु भारतीय जातिगत समाज का यथार्थ ज्ञान जितना बाबासाहब को था,महात्माजी को नहीं था। "पुस्तक की लेखी" और "आँखन की देखी" में अन्तर तो आता ही है। परिणामस्वरुप दोनों नेताओं के दृष्टिकोण भिन्न है। जिस प्रकार की आजादी महात्माजी को पसंद थी, उस प्रकार की आजादी डाक्टर साहब को कतई-कतई कबूल नहीं थी। कहना चाहे तो कह सकते है कि गाँधीजी के आगे देश की आजादी एक लक्ष्य था और अछूतोद्धार उनके अनेक मुद्दो में से एक अहम मुद्दा। बाबा साहब इसके बरअक्स विपरीत पडते है। दलितो की आजादी उनका मुख्य लक्ष्य था। इसलिए दलितों के संगठन पर और शिक्षा पर वे सबसे ज्यादा तवज्जो देते है। उनका सूत्र है - "शिक्षित बनो, संगठित बनो, संघर्ष करो।"[६४] ज्ञान शक्ति और सम्मान देता है और इसलिए बाबासाहब को ज्ञान को "शेरनी के दूध "की संज्ञा देते है।[६५] हिन्दी के शीर्ष कथा-साहित्यकार और पत्रकार राजेन्द्र यादव लिखते है -"बहरहाल डाक्टर अम्बेडकर के इस कथन में एक पीडाजनक सच्चाई है कि "अंग्रेज देर से आये और जल्दी चले गए।" सच्चाई इसमें भी है कि सारा स्वतंत्रता-संग्राम या राष्ट्रीयता सिर्फ ऊँचे वर्गों और वर्णों का अपना मामला था- वह न स्त्रियों को मुक्त करता है, न दलितो को ...उन्हे सिर्फ आश्वासन देता है कि पहले देश स्वतंत्र हो जाए फिर तुम्हारी भी सुनेंगे... इन्हीं आश्वासनों से क्षुब्ध होकर स्वामी अछूतानंद ने स्वयं सन् १९२० के आसपास लिखा था - "तुम अपनी खातिर स्वतंत्रता को, समझ रहे हो अवश्य लाजिम,मगर करोडो ही आदी हिन्दु गुलामी में क्योंकर जड़े रहेंगे।" कितनी अलग है यह आवाज "हीराडोम" की करुण गुहार से।"[६६]

डॉ.बाबासाहब अम्बेड़कर का सम्पूर्ण जीवन उनके उक्त जीवन-सूत्र को ही रुपायित करता है। स्वयं शिक्षित हुए, अपने वर्ग को संगठित किया और दलितों के अधिकारों के लिए आजीवन लड़ते रहे। डॉ.बलवंत साधू जाधव डाक्टर साहब के संदर्भ में उचित लिखते है-"प्राचीन 'मनुस्मृति' को भस्मीभूत करके आचरण और समाज -व्यवस्था की "स्मृति" स्थापित करनेवाले, समता और स्वातंत्र्य के प्रतिपादक तथा दलितों के भाग्यविधाता डॉ.बाबासाहब अम्बेडकर का जीवन-कार्य दलितों की खातिर समर्पणशील और त्यागी व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है, जिसमें अनावश्यक, अन्यायी, ढोंगी प्राचीन व्यवस्था के प्रति विद्रोह का स्वर उभरा हुआ है। उस महान विभूति के जन्म से न केवल दलितों को, बल्कि मानवता को मान, प्रतिष्ठा और चेतना का स्वरुप प्राप्त हुआ। "अस्पृश्यता राष्ट्रीय प्रश्न है, उसे मानवीय मूल्य से तोलना चाहिए, अस्पृश्यता से भारतीय एकात्म जीवन खंडित हुआ है, जाति-व्यवस्थाके निर्मूलन के सिवा देश संपन्न और समृद्ध नहीं होगा। हिन्दू समाज को समता की नींव पर पुनर्गठन होने की आवश्यकता है, चातुर्यवर्ण की दीवारें गिराकर एक वर्णी समाज में सच्चा राष्ट्र पलता है।" इस प्रकार की भाव-विह्वलता और तड़प वाला एक इन्सान अठारहसौ इक्यानबे में उत्पन्न हुआ। उसके जन्म से पददलितों का भाग्य उजागर हुआ और इस कार्य में वे जीवन पर्यंत रहे।" [६७]

डॉ.बाबासाहब अम्बेडकर के जीवन-संघर्ष को संक्षेप में इस प्रकार रेखांकित कर सकते हैं -प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के दौरान अस्पृश्यता के कारण अनेक प्रकार के अपमान; १९०६ ई.में मेट्रिक परीक्षा में उत्तीर्ण, एक अछूत का मेट्रिक होना उस जमाने में बहुत बड़ी बात; सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक रायबहादुर सीताराम केशव की अध्यक्षता में अछूत-समाज द्वारा प्रथम सामाजिक सम्मान; उसी समारोह में कृष्णाजी द्वारा "बुद्ध-चरित्र" नामक पुस्तक भीमराव को प्रदान की गई जो स्वयं केलकरजी ने लिखी थी; केलुस्कर द्वारा किशोर भीमराव को बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव के सम्मुख ले जाना

और भीम के उत्तरों से प्रभावित महाराजा द्वारा प्रतिमास पच्चीस रुपये की छात्रवृत्ति प्रदान करना ; सन् १९१२ में बम्बई युनिवर्सिटी में बी.ए की उपाधी हासिल करना ; महाराजा के ऋण से उऋण होने की भावना के तहत बड़ौदा राज्य में नौकरी का विचार और उसके तहत बड़ौदा राज्य में लेफ्टीनेन्ट के पद पर नियुक्ति ; २ फरवरी सन् १९१३ में पिता रायजी सुबेदार की मृत्यु ; महाराजा के रहते हुए भी बड़ौदा में अस्पृश्यता के कारण उनके साथ बुरा व्यवहार ; महाराजा द्वारा भीमराव को उच्च शिक्षा हेतु भेजने का विचार ; १५ जून सन् १९१३ से १४ जून १९१६ तक ११.५० पौंड की मासिक छात्रवृत्ति इस शर्त पर मंजूर की कि सारा समय शिक्षा में लगायेंगे और वापसी पर दश वर्ष बड़ौदा रियासत में नौकरी करेंगे ; २१ जुलाई सन् १९१३ को जहाज द्वारा न्यूयोर्क के लिए रवाना ; १९१५ में कोलम्बिया युनि. से एम.ए ; १९१६ में उसी युनि. से पी-एच.डी ; शिक्षा की भूख का बढना ; छात्रवृत्ति की अवधि को दो साल बढाने की प्रार्थना पर केवल एक साल की मंजूरी ; न्युयोर्क से लंडन जाना और लंडन युनि. द्वारा सीधे एम.एस.सी. की परीक्षा में बैठने की अनुमती का मिलना किन्तु छात्रवृत्ति की अवधि न बढ़ने पर भारत लौट आना यह निश्चय के साथ कि धन कमाकर पुनः योरोप जायेंगे और एम.एस.सी. , डी.एस.सी. तथा बार एट लो करेंगे (सन्- १९१७); १२ सितम्बर १९१७ को बड़ौदा नौकरी के लिए पहुँचना ; बड़ौदा में तरह-तरह के अपमान (पारसी बनकर रहना पडता था होटल में) ; घोर अवमानना के बाद बम्बई लौटना और नौकरी के लिए संघर्ष ; ११ नवम्बर सन् १९१८ को बम्बई के सरकारी लोर्ड सिडन होम कॉलेज में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के रुप में नियुक्ति ; इसी बीच सन् १९१९ में अम्बेड़कर कोल्हापुर नरेश साहू महाराज के सम्पर्क में आये ; उनकी प्रेरणा से ३१ जनवरी १९२० को 'मूकनायक' नामक पाक्षिक पत्रिका का प्रकाशन (ध्यान रहे इस पत्रिका का विज्ञापन ''केसरी'' में निकालने से तिलक ने मना किया था); शुरु के ११ अंको में अम्बेड़कर के अग्र लेखो का छपना ; ५ जुलाई १९२० शिक्षा हेतु लंडन जाना ; १४ अप्रैल १९२३ को

लंडन युनि. की एम.एस.सी ,डी.एस.सी ,बार-एट लो आदि उपाधियाँ हासिल करके स्वदेश लौटना ; स्वदेश लौटकर अछूतोद्धार के समाज कार्य में जूट जाना ; २० जुलाई १९२३ को बम्बई में "बहिष्कृत हितकारिणी सभा" की स्थापना ; अप्रैल १९२५ को रत्नागिरि में "बम्बई प्रांतीय अस्पृश्य परिषद " की अध्यक्षता ; अच्छी नौकरियों को ठुकराकर अछूतोद्धार के कार्य हेतु केवल आजीविका के लिए अंशकालिक लेक्चरर के पद पर मार्च सन् १९२८ तक सेवारत रहना ; बम्बई सरकार द्वारा कौंसील का सदस्य मनोनीत करना(१९२७) ; महाड़ तालाब (चवदार तालाब) सत्याग्रह - मार्च-१९२६ ; मनुस्मृति की होली ; १७ मार्च १९३७ चवतारा तालाब पर अछूतो का दावा मंजूर ; नासिक कालाराम मंदिर प्रवेश सत्याग्रह(१९३०) ; सत्याग्रह में सफलता(१९३५) ; प्रथम गोलमेजी परिषद में अछूतो का प्रश्न रखना (१९ जनवरी १९३१) ; दूसरी गोलमेली परिषद (१५ अगस्त.१९३१) ; पूना समझौता (१९३२) ; तीसरी गोलमेजी परिषद (नवम्बर १९३२) ; पत्नी रमाबाई का देहान्त (२७ जून १९३५) ; धर्मांतरण की घोषणा (१३ अक्तुबर , १९३५); वाईसराय द्वारा कार्य-कारिणी समिति का सदस्य मनोनीत होना (२ जुलाई , १९४२); पाकिस्तान पर विचार नामक ग्रंथ प्रकाशित (१९४०); भारत सरकार के पोस्ट , टेलीग्राम ,रेल्वे , कस्टम -इन्कमटेक्स आदि विभागों में ८.३३% नौकरियाँ अछूतो के लिए आरक्षित (१९४३) ; कोग्रेंस तथा गांधीजी ने अछूतों के लिए क्या किया पुस्तक का प्रकाशन (१९४५) ; संविधान सभा की डॉ.राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में स्थापना (१९४६) ; छूआछूत का खात्मा सम्बन्धी कानून का पारित होना (१९ अप्रैल १९४७) ; प्रथम मंत्रीमण्डल में कानून मंत्री (१९४७) ; संविधान सभा ने संविधान का मसविदा बनाने के लिए डॉ.अम्बेडकर की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया (२९ अगस्त १९४७) ; संविधान का मसविदा ८ सूचियो तथा ३१५ धाराओं के साथ संविधान-सभा में प्रस्तुत हुआ (नवम्बर,१९४८) ; डाक्टर साहब के कार्य की सर्वत्र प्रशंसा ; संविधान पारित (२६जनवरी,१९५०) इस उपलक्ष्य में

कोलंबिया युनि. ने डाक्टर साहब को एल.एल.डी की उपाधि से सम्मानित किया (५ जून,१९५२) ; मंत्रीमंडल से त्यागपत्र (सितम्बर,१९५१) ; प्रथम चुनाव में हार जाना (जनवरी,१९५२) ; १४ अक्तुबर १९५६ को नागपुर में बौद्ध धर्म में दिक्षित ; लगभग १६ वर्ष पहले सन् १९४० में डाक्टर साहब ने ''गास्पेल ऑफ बुद्ध'' नामक ग्रंथ लिखना शुरु किया उसे ५ दिसम्बर १९५६ में उसकी भूमिका लिखकर पूरा किया और उसी रात लगभग ११ बजकर ५५ मिनिट पर अपना शरीर त्याग दिया।[६८] इस प्रकार इस महान आत्मा ने एक महान कार्य को संपन्न करके इस संसार से चुपचाप बिदा ली।

इस प्रकार हम देख सकते है कि डॉ.भीमराव अम्बेडकर दलित-विमर्श का पर्याय बन गए है । उनके पूर्व के तमाम दलित-विमर्श के उन्नायक कवि,लेखक या उपदेशक थे लेकिन डॉ.अम्बेडकर महान अनुसंधान कर्ता और कुशल राजनीतिज्ञ थे । ''शेरनी के दूध '' के प्रताप से उन्होंने एक निश्चित समय में जो भूमिका अदा की उसे मानवता के इतिहास में स्वर्णाक्षरो से लिखा जाएगा।

महात्मा गाँधी और डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर :-

यद्यपि डॉ.अम्बेडकर की बात करते हुए प्रकारान्तर से महात्मा गांधी पर भी बात हुई है , तथापि यहाँ अलग से कुछ स्पष्टता आवश्यक है । इस संदर्भ में गणेश मंत्री के निम्नलिखित कथन को उल्लेखनीय समझा जा सकता है : ''आंबेडकर और गांधी आज भी दूर-दूर खड़े है । अपने नेता से भी बढ़कर उनके अनुयायी होने का दावा करने वाले लोगों का मानना है कि इन दोनों का मेल-मिलाप असंभव है । एक तरफ से यह कथन गलत भी नहीं लगता। इन दोनो महापुरुषों के स्वभाव ; आस्थाओं , विचारों , संवाद , शैली और कार्य-प्रणाली में इतनी भिन्नताएँ रही है कि समानता के सूत्र नजर नहीं आते । कहाँ गांधी और कहाँ अम्बेडकर ? इनके व्यक्तित्व भिन्न , इनकी प्राथमिकताएँ भिन्न , इनकी संघर्ष शैलीयाँ भिन्न। इनमें समन्वय का

क्या काम ? फिर,अनेक सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों तथा प्रसंगो पर दोनो में न सिर्फ मतभेद रहे , बल्कि संघर्ष भी हुआ । इन सब ऐतिहासिक तथ्यों को नजरअन्दाज कर कोई गांधी और अम्बेडकर में समन्वय करना चाहे तो कर ले, किन्तु वह वास्तविक नहीं, महज एक खुशफहमी रहेगी ।''[६९]

गांधी अपने को व्यावहारिक आदर्शवादी मानते थे । किन्तु इसमें अपने आप में अन्तर्विरोध है , क्योंकि व्यवहारवादी को आदर्शों के साथ कहीं - न-कहीं समझौते करने पडते है ।जीवन के आखिरी दौर को छोडकर वे आजीवन वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते रहे । कहते रहे कि ''वर्णाश्रम धर्म और अस्पृश्यता में कोई सम्बन्ध नहीं है ।'' [७०] समाज परिवर्तन की बात भी दोनो भिन्न -भिन्न तरीकों से करते है । आंबेडकर समाज -परिवर्तन के लिए दलितों को संघर्ष के लिए प्रेरित करते है । जबकि महात्मा गांधी अस्पृश्यों के सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष के बदले सवर्णों में पाप-बोध जगाने और उसके प्रायश्चित पर जोर देते थे । १९३१ में नासिक के कलाराम मंदिर में अस्पृश्यों प्रवेश के लिए सत्याग्रह के बारे में भी गांधी का यह मत था कि सह सत्याग्रह अछूतों को नहीं , स्पृश्यों को करना चाहिए ।[७१] यहाँ गांधी कदाचित बृहद भारतीय समाज, ग्रामीण समाज को समझने में भूल करते है । वे यह भूल जाते है कि सभी महात्मा नहीं हो सकते ।

यहाँ मुझे मेरे निर्देशक महोदय डॉ.पारुकान्त देसाई द्वारा प्रणीत एक दोहे का स्मरण बरबस हो रहा है -

''पूछेगा गर तू नहीं , ना पूछेगा कोय ।
अश्रु फूटे ना आँख से, घुटने काहे रोय ।।''

गांधीजी की प्राथमिकता भारत की आजादी थी , जबकि डॉ.अम्बेडकर जाति-पाँति तोडने को सर्वोच्च प्राथमिकता देते थे । इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु अंग्रेज सरकार से सहयोग लेने में उन्हें कोई हिचक नहीं थी । गांधीजी चाहते थे कि एक बार अंग्रेज चले जाएं , हमारी समस्याएँ हम फोड लेंगे ; जबकि

अम्बेडकर चाहते थे। अंग्रेजों के जाने से पूर्व स्वतंत्र भारत में उनके वर्ग के लोगों के सामाजिक-राजनीतिक अधिकार सुरक्षित और सुनिश्चित हो जाने चाहिए और इस क्रम में आजादी अगर देर से भी मिलती है तो उसमें उनको कोई आपत्ति नहीं थी।

गांधी महात्मा है। सबके लिए उनके मन में सद्भाव है। आंबेडकर विद्वान और कर्मठ राजनीतिज्ञ है। उनकी वैचारिकता पर विज्ञाननिष्ठा, आधुनिक सामाजिक चिंतन और पश्चिमी राजनीतिक -आर्थिक अवधारणाओं की गहरी छाप है। उनका मानना है किकिसी भी प्रकार की सामाजिक क्रान्ति के लिए एक सुस्पष्ट विचारधारा का होना बहुत जरूरी है। गांधी में हिन्दू धर्म के प्रति गहरी आस्था है। दूसरी ओर अध्ययनशील आंबेडकर ने हिन्दु समाज व्यवस्था के दोष बताने और उसमें अन्तर्निहित अमानुषिकता को उजागर करने के लिए आधुनिक शास्त्रों का ही अध्ययन नहीं किया; इसके साथ ही उन्होंने प्राचीन हिन्दू धर्म शास्त्रों को भी बारीकी से पढ़ा था। गांधी और आंबेडकर के लेखन की तुलना करते हुए यह ठीक ही लिखा गया है कि ''गांधी के लेखन में जो स्थान सत्य और अहिंसा का है, आंबेडकर के प्रतिपादन में वहीं स्थान स्वातंत्र्य, समता और बंधुभाव की त्रिपुटी का है।''[७२]

गांधी और आंबेडकर की प्रथम मुलाकात १४ अगस्त १९३१ में बम्बई के मणिभुवन में हुई थी। प्रारंभिक बातचीत के बाद जैसे ही वे दलित समस्या पर आये तो दोंनो के मतभेद स्पष्टतया सामने आने लगे। वस्तुतः देखा जाए उनमें संवाद नहीं, विवाद हुआ। यह भी एक अचरज की बात है कि इस मुलाकात तक गांधीजी को यह जानकारी नहीं थी कि आंबेडकर स्वयं अस्पृश्यों में से है। वे उनको अपनी ही तरह का एक समाजसुधारक सवर्ण नेता समझते थे। इस मुलाकात में गांधीजी ने अस्पृश्यता निवारण के लिए अपने और कांग्रेस के प्रयासों का जिक्र किया। जवाब में आंबेडकर ने कहा कि कांग्रेस ने समस्या को औपचारिक मान्यता देने के अलावा कुछ नहीं

किया है.......कांग्रेस अपनी कथनी के बारे में इमानदार नहीं है , अन्यथा वह कांग्रेस की मेम्बरी के लिए खादी पहनने की अनिवार्यता की तरह अस्पृश्यता निवारण की भी शर्त रख सकती थी। कोई भी ऐसा आदमी , जो किसी-न-किसी अस्पृश्य स्त्री अथवा पुरुष को अपने घर में काम पर नहीं रखेगा या किसी अस्पृश्य विद्यार्थी का घर में पालन नहीं करेगा या किसी अस्पृश्य विद्यार्थी के साथ सप्ताह में कम-से- कम एक बार भोजन नहीं करेगा वह कांग्रेस का मेम्बर नहीं बन सकेगा। ...आप कहते हैं कि ब्रिटिश सरकार का हृदय परिवर्तन प्रतीत नहीं हो रहा है। मैं भी कहता हूँ कि हमारी समस्या पर हिन्दुओं का हृदय परिवर्तन होता नहीं दिख रहा है। जब तक वे अपनी बात पर अड़े हुए है तब तक हम न कांग्रेस पर विश्वास करेंगे और न हिन्दुओं पर। हम अपनी मदद आप करने और आत्म सम्मान में विश्वास करते है। हम महान नेताओं और महात्माओं में विश्वास करने के लिए तैयार नहीं है। मैं इस सम्बन्ध में आप से स्पष्ट कह दूँ कि इतिहास हमें बताता है कि महात्मा लोग तुरंत गायब हो जाने वाले प्रेतों की तरह होते है। वे धूल का गुबार तो उठाते है, पर लोगों का स्तर नहीं उठाते।[७३]

उपर्युक्त विवेचन से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि इन दोनों नेताओं में समानता कम असमानता ही ज्यादा दिखाई देती है। एक उत्तर ध्रुव है ,तो दूसरा दक्षिण ध्रुव। पर दोनों की प्रकृत्ति और स्वभाव में कुछ मूलभूत साम्य है -

(१) दोनो उत्तर-ध्रूव और दक्षिण ध्रूव है, किन्तु ये दोनो ध्रुव पृथ्वी से , जमीन से जुडे हुए हैं।

(२) दोनो की निष्ठा असंदिग्ध है। दोनो मानवता में विश्वास करते है।

(३) दोनो परिश्रमी और अध्ययनशील है और समय-समय पर स्वयं को ''अपडेट'' करते रहते है।अपने अंतिम दौर में गांधीजी पुरी दृढता के साथ छूआछूत ही नहीं ,जातिप्रथा के भी विरोधी होते गए थे और उन्होंने यहाँ तक कह दिया था कि वे सवर्ण और अस्पृश्य में विवाह को आशीर्वाद देंगे।

इस बीच गांधी विषयक आंबेडकर के विचारों में भी कुछ तब्दिली देखी जाती है । उन्हें स्पष्ट लगने लगा था कि जाति-प्रथा, वर्ण-व्यवस्था, और अस्पृश्यता निवारण के संबंध में महात्मा के विचार बदल रहे है । इन बातों का आंबेडकर ने निःसंकोच स्वागत किया था । उन्हों ने कहा भी था कि अब "गांधी को अपना आदमी कहना चाहिए कारण वे अब हमारी भाषा और हमारे विचार बोलने लगे है ।"[७४]

इस संदर्भ में एक प्रसंग का उल्लेख आवश्यक है । दिसम्बर सन् १९३२ में अप्पा साहब पटवर्धन रत्नागिरि जेल में थे । वे छुआछूत मिटाने के गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के अनुसार खुद पाखाना साफ करना चाहते थे । किन्तु जेल के अधिकारियों ने उनको इस बात की अनुमति नहीं दी । इसके विरोध में उन्हों ने जेल में उपवास शुरु कर दिया ।जब गांधीजी को इसकी खबर मिली तो उन्हों ने भी पटवर्धन के समर्थन में उपवास शुरु कर दिये । यह समाचार तीसरी गोलमजी परिषद के लिए गए आंबेडकर ने "डेइली होराल्ड" में पढ़े तो अपनी प्रतिक्रिया देते हुए उन्हों ने कहा- "मेरी राय में इस बार गांधीजी का कार्य सही है और सरकार की नीति गलत है सरकार को श्री पटवर्धन की इच्छा अनुसार भंगी का काम करने देना चाहिए था । इसको मना करने का सरकार के पास कोई कारण नहीं था । यदि जातिभेद और तज्जन्य अस्पृश्यता मिटानी है तो यह गलिच्छ धंधा वंश परंपरा से करने की रुढि खत्म होनी चाहिए ।"[७५]

अतः अंतिमवादी या कट्टरवादी दलित-नेताओं की तरह हम इस बात के पक्षधर नहीं है कि अछूतोद्धार और अस्पृश्यता निवारण से सम्बद्ध महात्मा के काम को अनदेखा किया जाए । वस्तुतः भले उनमें उतनी उग्रता या प्रखरता नहीं भी , दलित-विमर्श के संदर्भ में , किन्तु एक पृष्ठभूमि का निर्माण तो उन्होंने किया ही था । सवर्णों में भी जो उदारमतवादी लोग है उनका स्वागत करना चाहिए , हमें "स्वर्णिज्म" का विरोध करना चाहिए , सवर्णों का नहीं घृणा और नफरत से समरसता नहीं आयेगी । एक अंतिम से

हम दूसरे अंतिम की ओर ही जायेंगे । स्वयं आंबेडकर इस प्रकार की जड़ता और कट्टरता के विरोधी थे ।

आंबेडकर और मार्क्सवाद :-

आंबेडकर की विचारधारा और मार्क्सवादी विचारधारा में अधिकांशतः साम्य है । जैसे लडके-लडकी के विवाह के समय उनकी कुंडली के चिह्न मिलाये जाते है ; ठीक उसी तरह यदि हम इनकी कुंडलियों को मिलाये तो अधिकांश लक्षण मिलते-जुलते नजर आयेंगे । मार्क्सवाद प्रत्येक प्रकार के शोषण का विरोधी है । मार्क्सवाद समानता का हामी है । वर्गवाद का विरोधी है । निजीकरण का विरोधी है । स्त्री-पुरुष समानता में मानता है ; शिक्षा , संगठन और संघर्ष में मानता है । और ये सब बातें आंबेडकरी विचारधारा में भी अन्तर्निहित है ।

किन्तु बाबासाहब आंबेडकर ने मार्क्सवाद का विचार करते समय अछूतों के हितों को नजरअंदाज नहीं किया है । वस्तुतः बाबासाहब पर विचार करते समय निम्नलिखित पंक्तियाँ स्मृति में कौंध जाती है -''हुं जे कांई करुँ छुँ /कहुँ छुँ /हसुँ छुँ / श्वसुँ छुँ /ए सघळी छे त्रिज्याओ /मारा जीवन वर्तुल नी / केन्द्र मां तो तू ही तू,बस तू ही तू ।।''[७६] यहाँ कवि - अभिप्रेत अर्थ तो कुछ और है ; किन्तु बाबासाहब के बारे में यदि इन पंक्तियों को लें तो उनका अर्थ होगा कि उनकी चेतना के केन्द्र में तो केवल एक ही बात मिलती है और वह है अमानवीय अमानुषी छुआछूत प्रथा को जड़मूल से दूर करना । वे कहते हैं -''जातिभेद और छुआछूत ये दोंनो कम्युनिज़म में नहीं है । बाबासाहब को मार्क्सवाद अपूर्ण लगता है क्योंकि मार्क्सवाद में जाति अन्त का विचार नहीं है । दरअसल उन्हें दलितो की 'अस्पृश्यता' नष्ट होना ही सबसे अधिक महत्वकी बात लगती है ।'' इसलिए वे कहते हैं - ''लेनिन ने हिन्दुस्तान में जन्म लिया होता तो पहले उन्हों ने जातिभेद और छुआछूत को पुरी तरह से नष्ट किया होता और वैसा किए बिना क्रान्ति की कल्पना उनके मनमें आई ही नहीं होती । या तिलक बहिष्कृत वर्ग में पैदा

होते तो उन्होंने "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है" ऐसी गर्जना करने के बजाय "अस्पृश्यता नष्ट करना ही मेरा परम कर्तव्य है" ऐसा ही विश्वास के साथ कहा होता। बाबा साहब ने लेनिन और तिलक के संदर्भ में जो विचार व्यक्त किए है उसे देखने पर ऐसा लगता है कि बाबासाहब "क्रान्ति" और "स्वराज्य" की अपेक्षा जाति-अन्त को महत्वपूर्ण मानते है। "क्रान्ति" और "स्वराज्य" दोंनो ही राजनैतिक ध्येय से प्ररित हुए आंदोलन है लेकिन यह स्पष्ट है कि बाबासाहब सदैव इस मत पर दृढ़ रहे है कि भारत में राज़नैतिक क्रान्ति की अपेक्षा सामाजिक क्रान्ति अधिक महत्वपूर्ण है।"[७७]

मार्क्सवाद पर विचार करते हुए बाबासाहब वैकल्पिक दृष्टि से "बुद्धिज़म"पर विचार करते है और दोंनो की तुलना करते हुए निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं -

(१) यदि "दुःख" का अर्थ "शोषण"लिया जाए तो बुद्ध और मार्क्स में कोई अंतर नहीं है।

(२) बुद्ध हिंसा के विरुद्ध थे पर न्याय के पक्ष में थे। जहाँ न्याय के लिए आवश्यक होगा, वहीं उन्होंने बल का प्रयोग करने की इजाजत दी है।

(३) बुद्ध ने संघ में तानाशाहीविहीन साम्यवाद प्रस्थापित किया था। वह बहुत छोटे प्रमाण में साम्यवाद होगा भी। परन्तु वह तानाशाही विहीन साम्यवाद था।

(४) मानवता को केवल आर्थिक मूल्यों की आवश्यकता नहीं है। आध्यात्मिक मूल्यों का बनाएँ रखना भी उसकी अनिवार्यता है।

(५) क्या ऐसा साम्यवादी कह सकते है कि अपना लक्ष्य प्राप्त करते समय उन्होंने किन्हीं मूल्यों का नाश नहीं किया ? अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए उन्हों ने कितने लोगों को मार डाला ?क्या मानवीय जीवन का कोई मूल्य नहीं है।[७८]

इस प्रकार हम देख सकते है कि मार्क्सवाद की बहुत-सी बातों को मानते हुए भी बाबासाहब भारतीय समाज के संदर्भ में उसकी अपूर्णता को भी

रेखांकित करते है । मार्क्सवाद केवल बुद्धिवाद है और केवल बुद्धिवाद से मानवता का विकास संभव नहीं है । मार्क्सवाद धर्म को एक सिरे से नकारते हुए उसे अफीम का दर्जा देता है । आंबेडकर धर्म की आवश्यकता को समझते है । यहाँ वे कबीर और गाँधी के करीब है । वे धर्म के चुनाव में मानते है । किसी भी धर्मको न मानने से , ऐसे धर्म को मानना बेहतर होगा जो न्याय, समता, विवेक, अहिंसा, धर्म-निरपेक्षता तथा मानवीय मूल्यों पर आधारित हो ।

दलित और हरिजन :-

''दलित -विमर्श '' पर चिन्तन करते हुए उपर्युक्त शब्दों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है । ''दलित'' शब्द में व्यापकता है । उसमें वे तमाम लोग आ जाते है जिनका धर्म और शास्त्र के नाम पर शोषण हुआ है । यहाँ 'स्त्री' को भी दलित कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं है । मध्यकाल में ''हरिजन''शब्द का जो अर्थ था , वह आज के हरिजन से भिन्न था । वहाँ भक्त के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । गाँधीजी ने छुआछूत को कलंक मानते हुए अछूत जातियों को 'हरिजन' कहना शुरु किया । उन्हों ने 'हरिजन' नाम से एक पत्रिका का भी प्रकाशन शुरु किया था । वस्तुतः गाँधी जी की मंशा में कोई खोट नहीं थी । परन्तु आजादी के बाद संसद में बहसों के दरमियान यह मुद्दा फिर उभरकर आया और दक्षिण के कुछ सांसदो ने 'हरिजन' शब्द का विरोध किया , क्योंकि दक्षिण में कुछ राज्यों में जहाँ ''देवदासी'' प्रथा प्रवर्तमान थी वहाँ उन ''देवदासियों'' के संतानों को 'हरिजन' कहा जाता था , जिसका सीधा-सादा अर्थ था ''नाजायज़'' या बास्टर्ड । अतः अब 'हरिजन' शब्द को असंसदीय करार दिया गया है । परन्तु यहाँ एक बात विचारणीय है कि ''हरिजन'' शब्द असंसदीय है , अतः विधि-विधान में उसका प्रयोग न हो , यह तो समझ में आ सकता है । परन्तु साहित्य में भी उसका प्रयोग न हो ऐसा नहीं होना चाहिए । विशेषतः कथा-साहित्य में

संदर्भ-परिप्रेक्ष्य के अनुसार कोई भी शब्द आ सकता है । प्रेमचन्द के उपन्यास "रंगभूमि" में आए "चमार"शब्द को लेकर ३१ जुलाई २००४ को कुछ लोगो ने उसको जलाने का जघन्य कृत्य किया था । उसे लेकर राजेन्द्रयादव की टिप्पणी विचारणीय है-"बी.जे.पी. के कुछ दलित ग़ैर-साहित्यकारों द्वारा प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' में आए "चमार"शब्द को लेकर ३१ जुलाई को उपन्यास जलाने की भर्त्सना औरों के साथ-साथ दलित रचनाकारों ने भी की है । लाइब्रेरियाँ ध्वस्त करना , पुस्तकें पत्रिका जलाना , फिल्मों के शुटींग प्रदर्शन के विरूद्ध हंगामा करना , चित्रों और गैलेरियों को नष्ट करना, नाटकों पर हमला करना बीजेपी के अनपढ़ उज्जड़ों की परंपरा है । जो 'रंगभूमि' सूरदास को गांधी से बडा महात्मा, योद्धा सिद्ध कर रहीं हो उसे शब्दों के आधार पर जो तब निर्विरोध प्रचलित थे , जलाना जहालत और मूर्खता के सिवा क्या है ?"[७९] अब यहाँ किसी को प्रश्न हो सकता है कि बाबासाहब ने भी तो "मनुस्मृति" की प्रतियों को जलाया था। तो यहाँ हमें अपने विवेक का प्रयोग करना होगा । क्या प्रेमचन्द और मनु की मंशा एक है ? प्रेमचन्द ताजिन्दगी दलितों के प्रश्न में लिखते रहे है और मनु ताजिन्दगी दलितों के खिलाफ। किसी भी आंदोलन का का उद्देश्य क्या है, उसे देखना होगा। जिस आंदोलन में मानवीय मूल्यों का उल्लंघन हो , जो आंदोलन अन्यायमूलक और प्रगतिविरोधी हो, उसे आंदोलन न कहकर "धांधली" कहना चाहिए। कुछ वर्ष पर "आरक्षण" के खिलाफ कुछ न्यस्त हितवाले लोगों ने भारतभर में आंदोलन चलाया था । उसे क्या कहा जा सकता है ?

अस्पृश्यता- निवारण संबंधित कार्य :-

यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि उन्नींसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी में अस्पृश्यता निवारण को लेकर काफी काम हुआ है । प्रारंभ में आर्यसमाज , ब्रह्मोसमाज तथा प्रार्थनासमाज जैसी सामाजिक -

धार्मिक संस्थाओं ने ''दलित-विमर्श''का प्रारंभ किया। फिर तो अनेक ऐच्छिक संगठन सामने आये जिन्होंने अस्पृश्यता निवारण के कार्य को आगे बढाया। ऐसे संगठनों में निम्नलिखित मुख्य है -

(१) अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ,दिल्ली ; (२)भारतीय दलित वर्ग लीग,दिल्ली ; (३) ईश्वर शरण आश्रम , ईलाहाबाद ; (४)भारतीय रेड क्रोस सोसायटी , दिल्ली ;(५) हिन्दू मेहतर सेवक संघ,दिल्ली ; (६)रामकृष्ण मिशन आदि आदि।[८०]

अस्पृश्यता निवारण हेतु इस देश में जो कार्य हुआ उसे हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं-(१) सुधार आंदोलन या गैर सरकारी प्रयत्न तथा (२) सरकारी प्रयत्न-

(१) सुधार आंदोलन या गैर-सरकारी प्रयत्नः-

इसे भी हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते है : (क) सवर्ण हिन्दुओं द्वारा चलाए गए आंदोलन तथा (२) अस्पृश्य जातियों द्वारा चलाए गए आंदोलन।

(क) सवर्ण हिन्दुओं द्वारा चलाए गए आंदोलन :-

आधुनिक काल में राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द , स्वामी दयानन्द सरस्वति, श्रीमती एनी बेसन्ट, महात्मा गांधी आदि महानुभावों द्वारा जो आंदोलन हुए उन्हें हम इस वर्ग में रख सकते है। महात्मा गांधी ने सन् १९३२ में ''हरिजन सेवक संघ'' की स्थापना की। इस संघ ने अस्पृश्यता निवारण , पिछड़े वर्गों को उन्नति के अवसर दिलाने , श्रम के महत्व को स्थापित करने तथा मानव-मानव के बीच समानता और बंधुत्व की भावना स्थापित करने हेतु कुछ विशिष्ट प्रयत्न किए। इस संघ के द्वारा अस्पृश्यों को सार्वजनिक स्थानों का उपयोग तथा मंदिरों में प्रवेश करने का अधिकार दिलाने हेतु भी समय-समय पर आंदोलन

किये गये । संघ के प्रयत्नों से दक्षिण भारत के अनेक मंदिरों में हरिजनों को प्रवेश की आज्ञा प्रदान की गई । अस्पृश्यों में शिक्षा के प्रसार तथा उन्हें व्यवसाय संबंधी प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए भी हरिजन सेवक संघ ने प्रयास किया इस संघ की सैकडों शाखाएँ देशभर में फैली हुई है । स्पष्ट है कि इस संघ ने अपने विविध कार्यक्रमों के माध्यम से अस्पृश्यता-निवारण एवं अनुसूचित जातियों व पिछड़े वर्गों के उत्थान की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।[८१]

(ख) अस्पृश्य जातियों द्वारा चलाये गये आंदोलन :-

अस्पृश्यता निवारण के लिए स्वयं अस्पृश्य जातियों के नेताओं तथा लोगों द्वारा भी कुछ आंदोलन चलाए गए । उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में सर्वप्रथम ज्योतिबा फूले द्वारा इस संदर्भ में संगठित प्रयत्न हुए। उन्होंने पूणे में ''सत्यशोधक समाज'' की स्थापना की और उसके द्वारा अस्पृश्यों को उनके सामाजिक -धार्मिक -राजनीतिक अधिकार दिलाने की लगातार मांग वे करते रहे । उसके द्वारा उन्होंने इस समाज में चेतना की एक लहर को फूँक दिया। परन्तु इस आंदोलन को बाद में धर्म की आड़ लेकर दबा दिया गया । अतः बाद में इस आंदोलन को आगे बढ़ाने का काम डॉ.बाबासाहब आंबेडकर ने किया। इनके नेतृत्व में सन् १९२० में ''अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ'' एवं ''अखिल भारतीय दलित वर्ग फेडरेशन'' स्थापित किये गये । इन संगठनों के द्वारा बाबासाहब ने अस्पृश्यों के हित में अनेक धार्मिक-सामाजिक अधिकारों की मांगो को रखा। एतदिषक बाबासाहब के कार्यों को पूर्ववर्ती पृष्ठों में विस्तार से बनाया गया है , अतः यहाँ उनका पुनरावर्तन करना समुचित नहीं होगा।

(२) सरकारी प्रयत्न :-

पूर्ववर्ती पृष्ठों में निर्दिष्ट किया गया है कि संविधान का पूरा मसविरा

तैयार करने का काम बाबासाहब ने किया था। अतः स्वतंत्र भारत के संविधान में उन्हों ने अनुसूचित जातियों (Scheduled Castes) अनुसूचित जन जातियों (Schewled Tribes) के लिए विशेष संरक्षण की व्यवस्था की है। स्वतंत्र भारत में इस वर्ग के उत्थान के लिए जो सरकारी प्रयत्न हुए हैं, उनको हम निम्नलिखित शीर्षको में रख सकते है -(१) संवैधानिक प्रावधान (२) शिक्षा संबंधी सुविधाएँ (३) विधान मंडलो एवं पंचायतों में प्रतिनिधित्व (४) कल्याण एवं सलाहकार संगठन (५) सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व (६) अन्य कल्याण योजनाएँ (७) विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में इस वर्ग की उन्नति हेतु विभिन्न प्रावधान तथा (८) नागरिक अधिकार संरक्षण कानून ।

(१) संवैधानिक प्रावधान :-

संविधान में अनेक ऐसे प्रावधान रखे गये हैं जिनमें अस्पृश्यता निवारण तथा पिछड़े वर्ग के कल्याण की और विशेष ध्यान दिया गया है :-

(१) संविधान के अनुच्छेद १५ (१) में कहा गया है कि राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी एक आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। दुकानों, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश करने और साधारण जनता के लिए बने कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों आदि के प्रयोग से कोई किसी को नहीं रोकेगा।

(२) अनुच्छेद १७ के अनुसार अस्पृश्यता का अंत कर उसका किसी भी रुप में प्रचलन निषिद्ध कर दिया गया है।

(३) अनुच्छेद १८ के आधार पर अस्पृश्यों की व्यावसायिक निर्योग्यता को समाप्त कर दिया गया है और उन्हें किसी भी व्यवसाय को अंगीकृत करने की भी स्वतंत्रता प्रदान की गई है।

(४) अनुच्छेद ९४ के अनुसार हिन्दुओं के धार्मिक स्थानों को सभी जातियों के लिए खोल देने की व्यवस्था की गई है।

(५)अनुच्छेद २९ के अनुसार राज्य द्वारा पूर्ण अथवा आंशिक सहायता प्राप्त

किसी भी शिक्षण-संस्था में किसी नागरिक को धर्म, जाति, वंश अथवा भाषा के आधार पर प्रवेश से रोका नहीं जा सकता।

(६) अनुच्छेद ४६ में कहा गया है कि राज्य दुर्बलत्तम लोगों जिनमें अनुसूचित जातियाँ तथा आदिम जातियाँ आती हैं, उनकी शिक्षा संबंधी तथा आर्थिक हितों की रक्षा करेगा और सभी प्रकार से सामाजिक अन्याय और शोषण से उनको बचायेगा।

(७) अनुच्छेद ३३५ में कहा गया है कि संघ या राज्य के कार्यों से सम्बन्धित सेवाओं एवं पदों के लिए नियुक्तियाँ करने में अनुसूचित जातियों तथा आदिम जातियों के हितों का ध्यान रखा जायेगा।

(८) अनुच्छेद १४६ तथा ३३८ के अनुसार अनुसूचित जातियों के कल्याण व हितों की रक्षा के लिए राज्य में सलाहकार परिषदों एवं पृथक -पृथक विभागों की स्थापना का प्रावधान किया गया है। साथ ही यह बताया गया है कि राष्ट्रपति अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के लिए एक विशेष पदाधिकारी नियुक्त करेगा।[८२]

(२) शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ :-

इसमें अनुसूचित जातियाँ तथा अनुसूचित जन-जातियों के छात्रों के लिए निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था, पुस्तक तथा अन्य साधन उपलब्ध कराना, उनके लिए छात्रावास बनवाना, आयोग की परिक्षा हेतु उनके लिए प्रशिक्षण केन्द्रों को चलाना जैसे कार्य संपन्न होते हैं।

(३) विधानमंडलों एवं पंचायतों में प्रतिनिधित्व :-

संविधान के प्रावधान के अनुसार अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों का उनकी जनसंख्या के अनुपात में राज्यों की विधान सभाओं तथा पंचायतों में स्थान सुरक्षित किए गए है। पहले ये स्थान संविधान के लागू होने के २० वर्ष तक के लिए सुरक्षित हुए थे, परन्तु अभी पूर्णतया समरसता स्थापित नहीं हुई है, अतः हर पाँच साल के बाद उसकी अवधि बढा दी जाती है।

लोकसभा के ५४२ स्थानों में से ७९ और विधानसभाओं के ३९९७ स्थानों में से ५५७ स्थान अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित रखे गए हैं। [८३]

(४) कल्याण एवं सलाहकार संगठन :-

संविधान के प्रावधान के अनुसार ही केन्द्र तथा राज्यों में अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए अलग-अलग विभागों की व्यवस्था की गई है। कई राज्यों में तो उनके कल्याण को ध्यान में रखते हुए पृथक मंत्रालय भी स्थापित किए गए है। गुजरात उनमें से एक हैं। केन्द्र स्तर पर इन वर्गों के लिए कल्याण कार्यक्रमों का दायित्व गृह-मंत्रालय का है। भारत सरकार ने सन् १९६८,१९७१ तथा १९७३ में इन वर्गों के लिए चल रहे कल्याण कार्यों की प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए कुछ संसदीय समितियों का भी गठन किया है। कुछ राज्यों ने राज्य स्तर पर भी इस प्रकार की समितियों को बनाया है।

(५) सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व :-

अनुसूचित जातियों ,जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए सरकारी नौकरियों में भी कुछ स्थान आरक्षित रखे गए है। अखिल भारतीय स्तर पर अनुसूचित जाति तथा जनजातियों का आरक्षण उनकी जनसंख्या के आधार पर ७ प्रतिशत से लेकर १४ प्रतिशत तक रखा गया है। गुजरात में अनुसूचित जाति के लिए ७ प्रतिशत तथा जनजाति के लिए लगभग १४ प्रतिशत स्थान आरक्षित है। इसके अलावा इधर मंडल पंच (गुजरात में बक्षीपंच)के लिए २७ प्रतिशत स्थान आरक्षित है। इस वर्ग को सामाजिक एवं शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ा वर्ग (Socially and educationally backward class) भी कहते है। स्वाधिनता के कई वर्षों तक इसके लिए गंभीरता से प्रयत्न नहीं हुए। पहले तो प्रथम प्रयत्न, दूसरा प्रयत्न, तीसरा प्रयत्न, चौथा प्रयत्न करके बाद में उन स्थानों को सामान्य वर्ग (General Categary) से

भरने की चालाकियाँ चलती रहीं। परन्तु अब उस पर पाबन्दी लगायी गयी है। अतः ''बैक लोग'' बहुत बढ़ गया है । फलतः नयी जगहें जब निकलती हैं तो वे प्रायः आरक्षित होती हैं। अतः इस वर्ग के लोग अन्य वर्ग के लोगों के लिए ईर्ष्या, घृणा और तिरस्कार के सबब भी बन रहे है। और इसे लेकर पिछले दशकों में आंदोलन तक होते रहे हैं। और अब तो एक नया चक्र (षडयंत्र?) शुरू हो गया है। निजीकरण की प्रवृत्ति (Privatisation) के कारण अब धीरे-धीरे सरकारी नौकरियाँ ही समाप्त हो रहीं है- न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी ! इस प्रकार सामाजिक समरसता की प्रक्रिया को उलटकर पुनः सामाजिक शोषणोन्मुखी विषमता को स्थापित करने के भरसक प्रयत्न हो रहे है। उसके लिए नये-नये सिद्धान्त गढ़े जा रहे है। आरक्षित लोगों पर ''अयोग्यता'' का लेबल चिपका दिया जाता है। कई बार देखा गया है कि आरक्षण के कारण ही इस वर्ग के योग्यत्तम लोगों को नौकरी मिलती है। जहाँ आरक्षण नहीं है वहाँ श्रेष्ठतम लोगों को भी नहीं लिया जाता है।

(६) अन्य कल्याण योजनाएँ :-

उपर्युक्त कल्याण योजनाओं के अलावा इन वर्गों के लिए, विशेषतः अनुसूचित जाति के लोंगों के लिए अन्य अनेक योजनाओं का भी प्रावधान है। जैसे उनके स्वास्थ्य-सुधार, आवास, चिकित्सा, पीने का स्वच्छ पानी, प्रसूताओं के लिए मोटरगाडी की व्यवस्था आदि कई योजनाएँ है। परन्तु अक्सर ये योजनाएँ कागज पर ही रह जाती है।

(७) विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में इस वर्ग की उन्नति हेतु विभिन्न प्रावधान :-

पाँचवी पंचवर्षीय योजना में इन वर्गों के लिए १९७.३५ करोड रुपयों का प्रावधान था, वहाँ छठी पंचवर्षीय योजना में उनके जिए ५०६.५० करोड का प्रावधान किया गया। छठी योजना में १०५ लाख छात्रों के लिए मैट्रिक

पूर्व स्तर तक तथा ८ लाख छात्रों के लिए मैट्रिक के बाद की छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की गयी थी। इसी योजना में उपर्युक्त रकम के अलावा २७४ करोड रुपयों की अतिरिक्त व्यवस्था भी की। [८४]

(८) नागरिक अधिकार संरक्षण कानून (Civil Rights Protection Act1976)

भारत सरकार ने १९ नवम्बर १९७६ को एक पृथक कानून पारित करके पूरे देश में लागू किया। यह अस्पृश्यता अपराध अधिनियम १९५५ का ही संशोधित रूप है। इसके प्रमुख प्रावधान इस प्रकार है :-

(१) अस्पृश्यता के अपराध में दंडित लोग लोकसभा और विधानसभा का चुनाव नहीं लड़ सकते।

(२) अस्पृश्यता को ज्ञातव्य अपराध (cognizible offence) घोषित किया गया है जिसके अनुसार पुलिस बिना किसी शिकायत के अस्पृश्यता से सम्बन्धित अपराध में स्वयं सीधी कार्यवाही कर सकती है। ऐसे अपराध में वादी एवं प्रतिवादी को किसी प्रकार का कोई समझौता करने की आज्ञा नहीं होगी।

(३) पहली बार अस्पृश्यता सम्बन्धी अपराध के लिए एक महिने से छः महिने तक की कैद और १०० रुपये से लेकर ५०० रुपये तक के जुर्माने की व्यवस्था की गई है। दुबारा अपराध करने पर छः महीने से एक वर्ष तक की कैद तथा २०० रुपये से लेकर ५०० रुपये तक का जुर्माना और तीसरी बार ऐसा अपराध करने पर एक वर्ष से दो वर्ष तक की कैद और १००० रुपये तक के जुर्माने का प्रावधान रखा गया है।

(४) यदि कोई सरकारी कर्मचारी अस्पृश्यता से सम्बन्धित जांच के कार्य की जान बूझकर उपेक्षा करेगा तो उसके इस कार्य को अपराध को प्रोत्साहन देनेवाला और दण्डनीय माना जायेगा।

(५) अस्पृश्यता का प्रचार करना और उसे किसी भी रुप में न्यायोचित ठहराना भी अपराध होगा। किसी को अस्पृश्यता बरतने के लिए बाध्य करना भी दण्डनीय अपराध माना जायेगा।

(६) सामूहिक रुप से अस्पृश्यता संबंधी अपराध करने पर ऐसे किसी क्षेत्र के लोगों पर सामूहिक जुर्माना करने का अधिकार राज्य सरकारों को दिया गया है ।

(७) पूजा के निजी स्थानों पर जहाँ जनता साधारणतः जाती रहती है ,किसी भी रुप में अस्पृश्यता बरतना दण्डनीय अपराध होगा ।

(८) इस कानून का उल्लंघन करनेवाले लोगों को दण्ड देने हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति और मामलों की सुनवाई हेतु विशेष अदालतों के गठन की व्यवस्था की गई है । [८५]

इस प्रकार हम देख सकते है कि सरकारी तौर पर कायदे-कानून की दृष्टि से कागजी कार्यवाही तो बहुत हुई है , परन्तु आज भी दूर-दराज के गाँवों में अस्पृश्यता बरकरार है । अभी कुछ दिन पूर्व (अगस्त २००४) राजस्थान के एक गाँव की खबर दूरदर्शन पर बताई गई थी कि तीन दलित महिलाओं पर सामूहिक बलात्कार किया गया था । उनका अपराध केवल इतना था कि उनमें से किसी एक के भतिजे के साथ गाँव की एक सवर्ण जाति की लडकी भाग गई थी । राजस्थान के भटेरी गाँव की भाँवरीबाई को अभी तक न्याय नहीं मिला है । उस पर भी गाँव के लोगों ने , बल्कि प्रतिष्ठित लोगों ने , सरेआम सामूहिक बलात्कार किया था । उसका अपराध यह था कि राजस्थान की ही सरकारी योजना के तहत वह ''साथिन'' थी और गाँव में ''शिशु विवाह'' के खिलाफ वातावरण तैयार कर रही थी । सेशन्स कोर्ट के जज ने इस मामले को यह कहते हुए खारिज कर दिया था कि ऐसे प्रतिष्ठित लोग ऐसा कुकर्म सबके बीच में कर ही नहीं सकते । सती-विरोधी कानून है पर राजस्थान में ही रुढिचुस्त (Orthodox) राजनीतिक लोगों की शह से राजकुंवर बा सती हुई , वहाँ मंदिर भी बना और लोग वहाँ चढ़ावा भी चढा रहे है । कहाँ है कानून ? कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक सामाजिक समरसता स्थापित नहीं होगी ,जब तक सत्ता समाज के निचले तबके तक नहीं पहुँचेगी, जबतक बहुजन समाज के लोग शिक्षित ,संगठित एवं संघर्षित नहीं

होंगे तब तक ये जुर्म होते रहेंगे, जुर्म करनेवालों को ही उनका संरक्षक बनाया गया है। इस संदर्भ में देसाई साहब का निम्नलिखित दोहा उद्धरणीय रहेगा -

> ''जो पहले होता रहा, अब भी वो ही बात।
> आखिर चिडिया क्या करें, डाल बने है जाल॥''[९६]

निष्कर्ष :-

अध्याय के समग्राकलन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष तक सहजतया पहुँच सकते है -

(१) दलित-विमर्श का अर्थ होगा -दलितवर्ग की चिन्ता, दलितों की स्थिति पर चिंतन , दलितों की दयनीय , शोषित , दलित स्थितियों के कारणों की पड़ताल ; उनकी समस्याओं का विश्लेषण तथा उन पर थोपी गई निर्योग्यताओं के खिलाफ चेतना जाग्रत करना और दलितों को अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट कर उसके लिए उन्हें संगठित कर आवश्यकता पड़ने पर संघर्ष के लिए प्रेरित करना।

(२) वर्णाश्रम व्यवस्था अन्यायमूलक ,शोषणमूलक ,भारत को खंडित करनेवाली तथा जातिवाद को बढ़ावा देनेवाली अतार्किक तथा अवैज्ञानिक व्यवस्था है।

(३) वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण ही शूद्रों पर सामाजिक , राजनीतिक , धार्मिक निर्योग्यताएँ थोपी गयीं जिनके बड़े ही दुष्परिणाम सामने आये।

(४) प्रारंभ में अस्पृश्यता नहीं थी। डॉ.बाबासाहब आंबेडकर ने गहन अध्ययन के द्वारा यह प्रस्थापित किया कि भारत में लगभग ४०० ई.में गुप्त राज्य के समय में अस्पृश्यता का समावेश हुआ है।

(५) दक्षिण भारत के राज्यों में तो अस्पृश्यता अपनी चरम-सीमा पर थी और उच्च वर्ण के लोग शूद्रों की परछाईयों से भी भ्रष्ट हो जाते थे। कोचीन की सरकारी रिपोर्ट में इसे देखा जा सकता है।

(६) दलित-विमर्श यात्रा का प्रारंभ बौद्ध धर्म के उदय के साथ होता है । तत्पश्चात सिद्धों, नाथों और संतो के काव्य में उसे लक्षित किया जा सकता है । बुद्ध के बाद कबीर-दलित-विमर्श के महान उन्नायकों में आते है । आधुनिक काल में नवजागरण के सामाजिक -धार्मिक आंदोलन के बाद दलित-विमर्श एक नये ढंग से उभरता है । बींसवीं शताब्दी में दलितों के मसीहा डॉ.बाबासाहब आंबेडकर इस विमर्श को एक नयी दिशा प्रदान करते हैं । इसमें गैर-दलित वर्ग के लेखकों -कवियों और नेताओं की सकारात्मक भूमिका को नकारना समुचित न होगा । महात्मा गांधी में एतद्विषयक प्रखरता और उग्रता जो बाबासाहब में है , भले न हो परंतु उनके एतद्विषयक कार्य की नोंध इतिहास अवश्य लेगा । इसमें मध्यम मार्ग का अनुसरण ही दलितों के हित में रहेगा ।

(७) दलित-विमर्श के प्रमुख नेताओं में गोपालराव हरि देशमुख, महात्मा ज्योतिबा फूले, गोपालगणेश आगरकर , महर्षि प्रो. अण्णा साहब कर्वे, श्रीमंत महाराजा सयाजीराव गायकवाड , गोपालकृष्ण गोखले , महात्मा गांधी, महर्षि विठ्ठल रामजी शिंदे , वीर सावरकर , राजर्षि श्री साहूजी महाराज , कर्मवरी भाउराव पाटिल, तथा डॉ.बाबासाहब आंबेडकर प्रभृति मुख्य है । इनमें बाबा साहब की भूमिका को युगान्तकारी और शकवर्ती कहा जा सकता है ।

(८) दलितोद्धार के संदर्भ में बाबा साहब का कार्य सतत संघर्ष का रहा है । ''शिक्षित बनो, संगठित बनो और संघर्षी बनो'' इस सूत्र को न केवल उपदेश द्वारा बल्कि अपने जीवन -संघर्ष द्वारा उन्होंने चरितार्थ किया है ।

(९) महात्मा गांधी और आंबेडकर में अनेक मुद्दों में विरोध होते हुए भी महात्ता गांधी की एतद्विषयक मंशा असंदिग्ध है ।

(१०) आंबेडकर की विचारधारा और मार्क्सवाद में भी कुछ मुद्दों में अंतर है ,पर समानताएँ अधिक है ।

(११) महात्माजी ने दलितों के लिए ''हरिजन''शब्द प्रयुक्त किया था ,

परन्तु आजादी के बाद संसद में हुई बहसों के फलस्वरुप अब इस शब्द को असंसदीय करार दिया गया है ।

(१२) अस्पृश्यता -निवारण के संदर्भ में सुधार आंदोलन हुए हैं । उसमें गैर-दलित लोगों तथा संस्थाओं की भूमिका भी महती रही है । स्वयं दलित संस्थाओं तथा नेताओं की भी उसमें अहम भूमिका रही है । सरकारी प्रयत्नों से भी उसमें कुछ परिवर्तन आया है , तथापि इस संदर्भ में अभी तक १० प्रतिशत काम हुआ हो , ऐसा प्रतित होता है । दूर-दराज के गाँवो में दलितों का भविष्य आज भी अंधकारमय है । कायदे-कानून है, पर वे कानून - पोथियों में ही सिमट कर रह गये है । आंबेडकर सही और गांधी गलत साबित हो रहे है ।

*

संदर्भानुक्रम :-

(१) हेनरी थोरो- टाइम्स ऑफ इंडिया : २८-८-२००४, पृ.१

(२) दृष्टव्य : संदेश : गुज.दैनिक

(३) नवभारत टाईम्स : हिन्दी दैनिक : दिनांक -२-९-०४ :पृ.६ ।

(४) उद्धृत द्वारा : डा.गुप्ता एवं शर्मा : भारतीय समाज तथा संस्कृति : पृ.१५०

(५) दृष्टव्य : वही : पृ.६६-६७ ।

(६) महाभारत शांति पर्व :१२२ :४-५ ।

(७) वही।

(८) भगवद्गीता : अध्याय-४ : श्लोक-१३ ।

(९) Cast : Class & occupation- डॉ. जी.एस. घुरिया,पृ. ४५

(१०) भारतीय समाज तथा संस्कृति : डा. गुप्ता एवं शर्मा : पृ.६५।

(११) वही, पृ. ६९

(१२) दृष्टव्य : भारतीय समाज तथा संस्कृति : पृ.१५५ ।

(१३) मनुस्मृति : २-१६६ ।

(१४) वही : १-८९ ।

(१५) गीता : १८-४३ ।

(१६) मनुस्मृति :१-९० ।

(१७) वही : १-९१ ।

(१८) भारतीय समाज तथा संस्कृति : पृ. ७५

(१९) द्रष्टव्य : पहला सूरज (उपन्यास) : डॉ. भगवतशरण मिश्र,

(२०) दृष्टव्य : हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग : डॉ. कुसुम मेघवाल : पृ. ११

(२१) वही : पृ. ११

(२२) जाति-व्यवस्था : डॉ.नर्मदेश्वर प्रसाद : पृ.२२ ।

(२३) १० से १८ के लिए :दृष्टव्य : भारतीय सामाजिक समस्याएँ : डा. गुप्ता एवं शर्मा : पृ.२७९-२८२ ।

(२४) दृष्टव्य :हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परंपरा में साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास :डॉ.पारुकान्त देसाई : पृ.२२३ ।

(२५) हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर : डॉ.के.एम पणिकर : पृ.२६९ -२८० ।

(२६) धरती धन न अपना : जगदीश चन्द्र : पृ.१०९ ।

(२७) दृष्टव्य : भीमराव रामजी आंबेडकर : डॉ.जी.एस .लोखण्डे : पृ.७५

(२८) दृष्टव्य : डॉ.बाबासाहब आंबेडकर : संपूर्ण अक्षरदेह : ग्रंथ -१४ : पृ.६-७ ।

(२९) दृष्टव्य : वही पृ.१२० ।

(३०) से (३७) दृष्टव्य : वही : पृ. क्रमशः १२१,१२२,१२२,१४४-१४५,१४६,१५८,१५८,१५९ ।

(३८) डॉ. बाबा साहब आंबेडकर : संपूर्ण अक्षरदेह : ग्रंथ-१४, पृ. १३०

(३९) विस्तार के लिए दृष्टव्य :मन ही पूजा मन ही धूप : ओशो रजनीश ।

(४०) डा.बाबासाहब आंबेडकर : संपूर्ण अक्षरदेह : ग्रंथ -१४ । पृ.१९९ ।

(४१) भारत का सांस्कृतिक इतिहास : डॉ. हरिदत्त वेदालंकार : पृ.२७७ ।

(४२) दृष्टव्य : भारतीय समाज तथा संस्कृति : डा.गुप्ता एवं डा.शर्मा :
पृ.१३८ ।

(४३) दृष्टव्य : हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेन्द्र : पृ.५० ।

(४४) दृष्टव्य : हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. हृदयेश मिश्र और
डा.शिवलोचन पाण्डेय : पृ.१८ ।

(४५) हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ.नगेन्द्र : पृ.५० ।

(४६) हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ.मिश्र एवं डॉ. पाण्डेय : पृ.१९

(४७) वही : पृ.१९ ।

(४८) संस्कृति के चार अध्याय : डॉ. रामधारी सिंह दिनकर : पृ.३२१ ।

(४९) संस्कृति के चार अध्याय : डॉ.रामधारी सिंह दिनकर : पृ.२६३ ।

(५०) और (५१) वही : पृ. क्रमशः ३२१, ३२१ ।

(५२) चिंतनिका : डॉ.पारुकान्त देसाई : पृ.११ -१२ ।

(५३) संस्कृति के चार अध्याय : डॉ.रामधारी सिंह दिनकर : पृ.३३८ ।

(५४) उद्धृत द्वारा : डॉ.दिनकर : ग्रंथ उपरिवत : पृ.३३८ ।

(५५) वही : पृ.३३९ ।

(५६) पूरा कबीर : सं. डॉ.बलदेव वंशी : कबीर अर्थात कबिरा : नामक
लेख : पृ.१९४-१९५ ।

(५७) पूरा कबीर : पृ.२०६ ।

(५८) संस्कृति के चार अध्याय : डॉ.दिनकर : पृ.५५८ ।

(५९) वही : पृ.५४७ ।

(६०) विस्तार के लिए देखिए : प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : डॉ.बलवंत
साधू जाधव : पृ.२९-४२ ।

(६१) दृष्टव्य : वही : पृ.३३ ।

(६२) से (६३) : वही : पृ. क्रमश : ३२ ,३३ ।

(६४) डॉ.बाबासाहब के अमृतवचन : मुखपृष्ठ से ।

(६५) दृष्टव्य : हंस : दलित विशेषांक : अगस्त -२००४ : पृ.५ ।

(६६) वही : पृ.५ ।

(६७) प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ.४०-४१ ।

(६८) सन् तथा तिथियों के लिए दृष्टव्य : डॉ.अम्बेडकर -भारत के आधुनिक मनु : लेखक : नरेन्द्र प्रकाश ।

(६९) हरिजन से दलित : सं .राजकिशोर : पृ. ११२ ।

(७०) वही : पृ.११२ ।

(७१) दृष्टव्य : आंबेडकरी चकवक : य.दि. फलके पृ.३४ ।

(७२) सरदार गांधी आणि आंबेडकर : गंगाधर बालकृष्ण : पृ.१० ।

(७३) दृष्टव्य : नवयुग : आंबेडकर विशेषांक : अंक -१३ , अप्रैल -१९४७

(७४) दृष्टव्य : हरिजन से दलित : पृ.११७ ।

(७५) सरदार गांधी आणि आंबेडकर : पृ.७३ ।

(७६) देसाई साहब की गुजराती कविता से ।

(७७) दलित साहित्य का सौंदर्य-शास्त्र : डॉ.शरणकुमार लिम्बाले : पृ.६६

(७८) दृष्टव्य : वही : पृ.६७ ।

(७९) हंस : सितम्बर :२००४ : पृ.१० ।

(८०) दृष्टव्य : भारतीय सामाजिक समस्याएँ : डॉ.गुप्ता एवं शर्मा : पृ.२८४-२८५

(८१) दृष्टव्य : वही : पृ.२८५ ।

(८२) दृष्टव्य : वही : पृ.२८६-२८७ ।

(८३) ये आंकडे "इन्डिया-१९८४" के अनुसार है ।

(८४) दृष्टव्य : भारतीय सामाजिक समस्याएँ : पृ.२८८-२९० ।

(८५) दृष्टव्य : वही : पृ.२९०-२९१ ।

(८६) मानसमाला : डा.पारुकान्त देसाई ।

*